चतुर्थ अध्याय

गंगाप्रसाद मिश्र के कथा-साहित्य में प्रतिबिंबित लखनऊ का जन-जीवन

चतुर्थ अध्याय

गंगाप्रसाद मिश्र के कथा-साहित्य में प्रतिबिंबित लखनऊ का जन-जीवन

१.१ प्रस्तावना

१.२ गंगाप्रसाद मिश्र के कथा-साहित्य में लखनऊ का सामाजिक जन-जीवन

(१.) ग्रामीण समाज

(२.) नगरीय समाज

(३.) मध्यवर्गीय समाज

१.३ गंगाप्रसाद मिश्र के कथा-साहित्य में लखनऊ का सांस्कृतिक जन-जीवन

(१.) लोक संस्कृति

(२.) पूँजीवादी संस्कृति

(३.) सामाजिक संस्कृति

१.४ निष्कर्ष

१.५ सन्दर्भ

गंगाप्रसाद मिश्र के कथा-साहित्य में प्रतिबिम्बित लखनऊ का जन-जीवन

१.१ प्रस्तावना :

आधुनिक युग में व्यक्ति और समाज का संबंध अत्यधिक जटिल हो गया है। दोनों की महत्ता के संबंध में विद्वानों के परस्पर विरोधी मत रहे है। विद्वानों का एक वर्ग समाज को अत्यधिक महत्व देकर व्यक्ति की स्थिति को नगण्य बना देता है तो दूसरा वर्ग व्यक्ति की स्वतंत्रता के लिए सामाजिक मान्यताओं, परंपराओं और मर्यादाओं को बाधा मानकर उनकी उपेक्षा करता है। वस्तुतः ये दोनों ही दृष्टिकोण एकांगी हैं, दोनों भिन्न-भिन्न न होकर एक-दूसरे के पूरक है। संकीर्ण एवं भ्रामक धारणा के कारण ही दोनों के मध्य अंतर्विरोध की स्थिति उत्पन्न होती है। व्यक्ति और समाज के उत्थान हेतु दोनों में संतुलन नितान्त आवश्यक है।

पंडित गंगाप्रसाद मिश्र का समग्र लेखन व्यक्ति और समाज-हित में संतुलन स्थापित करता है। डॉ. इंदु शुक्ला के शब्दों में- "किसी भी कला की आराधना अथवा साहित्य सृजन में लगे हुए व्यक्ति, जो उसे अपने जीवकोपार्जन का साधन बना लेते हैं, अक्सर बड़ी कठिनाइयों के दौर से गुजरते हैं। उनका त्याग स्तुत्य होता है। परंतु वे व्यक्ति जो अपनी विशेषताओं, पारिवारिक उत्तरदायित्व आदि के कारण उसे अपनी रोज़ी-रोटी नहीं बनाते, कोई नौकरी या व्यवसाय कर लेते हैं और उससे जो समय बचता है, उससे अपनी सामर्थ्य-भर साहित्य का सृजन करते हैं; उनका योगदान भी अतिशय मूल्यवान होता है।"[1]

गंगाप्रसाद मिश्र ने व्यक्ति और समाज का ध्यान में रखते हुए अपने कथा-साहित्य का सृजन किया है। आधुनिक शिक्षा और तत्कालीन व्यक्तिवादिता के संदर्भ में व्यक्ति और समाज सम्बन्धी उनके चिन्तन की उपादेयता और बढ़ जाती है। वे आद्यन्त प्रगतिशील लेखक थे। फलस्वरूप वे जहाँ भी अध्यापक या अधिकारी के पद पर रहे, अत्यंत लोकप्रिय और आदरणीय रहे और उनके द्वारा सृजित साहित्य का परिणाम भी निरन्तर बढ़ता गया। वे अपने जीवन के अन्तिम समय तक अत्यन्त अशक्त होते हुए भी रचनाकर्म में लगे रहे। उनके व्यक्तित्व में विनम्रता और साहस का, अनुशासन और मानवप्रेम का, रचनाशीलता और समाज के प्रति कर्तव्यबोध का, राष्ट्रप्रेम और प्रगतिशीलता का तथा कलाप्रेम और खेल-प्रेमी का अद्भुत मणिकांचन योग था।

लखनऊ के साहित्यिक परिवेश के वे अभिन्न अंग थे। कथाकार यशपाल, भगवतीचरण वर्मा, अमृतलाल नागर उनके परम आत्मीय थे। श्रीलाल शुक्ल जैसा उपन्यासकार (जो

कन्यकुब्ज कॉलेज में गंगाप्रसाद मिश्र के छात्र रहे) उनको अतीव आदर देता था। उनके साथ उनकी बैठकें जब-तब हुआ करती थी। कथाकार वृन्दावन लाल वर्मा, कविवर हरिवंश राय 'बच्चन', धर्मवीर भारती जैसे रचनाकार उनके स्नेही स्वजन थे। गंगाप्रसाद मिश्र एक साथ उपन्यासकार, कहानीकार, समीक्षक, नाट्यलेखक, संस्मरण-लेखक तथा निबंधकार थे। वे साहित्य-सर्जक थे, साहित्य-चिंतक थे, साहित्य के प्रति समर्पित व्यक्ति थे। वे जो कुछ भी थे, अपने आप बने थे, स्वयंसिद्ध थे; इसलिए साहित्य शिविरों में उपेक्षित भी रहे।

श्री गंगाप्रसाद मिश्र जहाँ भी रहे उन्होंने उस क्षेत्र में साहित्यक, सांस्कृतिक वातावरण बनाकर जनता की अभिरुचि को परिष्कृत करने का प्रयास किया उनका विश्वास था : "विद्यालयों का कार्य केवल पुस्तकीय-शिक्षा देना ही नहीं है, आस-पास के क्षेत्र के सांस्कृतिक माहौल को परिष्कृत करना भी है।"[2] इन्होंने कवि सम्मेलन, कहानी सम्मेलन, संगीत सम्मेलन के सफल आयोजन किए। उन्होंने बस्ती में 'द्विजेश परिषद' की स्थापना की और सुलतानपुर में जब तक रहे 'पंडित रामनरेश त्रिपाठी जयंती' का स्पृहणीय का आयोजन किया। उनके द्वारा सर्वत्र सफल एवं स्तरीय साहित्यिक एवं कलापरक समारोहों के आयोजनों से एक सांस्कृतिक परिवेश को रचने के कारण उन सभी स्थानों की जनता अब भी प्रेम और श्रद्धा के साथ अब भी उनका स्मरण करती है।

इस चतुर्थ अध्याय में 'गंगाप्रसाद मिश्र के कथा साहित्य में प्रतिबिम्बित लखनऊ का जन-जीवन' लखनऊ का सांस्कृतिक जन-जीवन, लखनऊ का धार्मिक जन-जीवन तथा लखनऊ का आर्थिक जन-जीवन को लिया गया है।

१.२ गंगाप्रसाद मिश्र के कथा साहित्य में लखनऊ का सामाजिक जन-जीवन

हिन्दी कथा-साहित्य में प्रगतिशील धारा के सशक्त रचनाकार के रूप में श्री गंगाप्रसाद मिश्र की एक अलग पहचान है। इन्होंने अपने सजग वैज्ञानिक-बोध के आधार पर युगीन-जीवन के संपूर्ण यथार्थ को अभिव्यक्त किया है। मिश्र जी अपने कथा साहित्य के माध्यम से लखनऊ, समाज की पीड़ा, उत्पीड़न और शोषण के विश्वस्त चित्र प्रस्तुत करते हैं तथा लखनवी-समाज में प्रचलित जीवन-मूल्यों अथवा बनते-बिगड़ते या मिटते-जीवन मूल्यों को अपनी कृतियों के माध्यम से व्यक्त करते हैं। प्रस्तुत अध्याय में मिश्र जी के कथा-साहित्य में चित्रित लखनऊ के जन-जीवन के अंतर्गत सामाजिक आयामों की अभिव्यक्ति का विवेचन किया गया है।

(१.) ग्रामीण समाज :

श्री गंगाप्रसाद मिश्र के कथा-साहित्य में भारतीय समाज का विस्तृत चित्रफलक देखने को मिलता है क्योंकि; मिश्र जी ने बहुत छोटी-छोटी जगहों पर और पिछड़े हुए क्षेत्रों में कार्यरत रहे। ये जगहें साहित्य के लिए बिल्कुल उर्वर न थी। मिश्र जी जहाँ भी रहे, उन्होंने उस क्षेत्र में साहित्यिक, सांस्कृतिक वातावरण बनाकर जनता की अभिरुचि की परिष्कृत करने का प्रयास किया।

श्री मिश्र के प्रसिद्ध उपन्यास 'जहर चाँद का' में ग्रामीण कस्बे की पृष्ठिभूमि का एक विद्यालय है, जो कि कथावस्तु के केंद्र है। इसमें उन्होंने ग्रामीण समाज में स्थित विद्यालय के माध्यमिक शिक्षा की यथार्थ-छवि प्रस्तुत की है। इस उपन्यास में वर्णित कौशल कुमार, अपने आदर्शों और सिद्धांतों को नहीं छोड़ता है। कौशल कुमार रामनगर में स्थित विद्यामंदिर इंटर कॉलेज में एक अध्यापक बनकर जाते है। वहाँ पर कौशल को कई विसंगतियों का सामना करना पड़ता है।

मिश्रजी ने 'जहर चाँद का' उपन्यास में देश की एक ज्वलंत समस्या उसके यथार्थ रूप में अंकित किया है। यह समस्या है, ग्रामीण क्षेत्र में दी जाती हमारी वर्तमान विकलांग एवं दूषित शिक्षा प्रणाली। लेखक के स्वयं इस क्षेत्र से सीधे संबंधित एवं संदर्भित होने के कारण कथ्य की प्रामाणिकता द्विगुणित हो गई है। उपन्यास का केंद्र है रामनगर में स्थित विद्यामंदिर इंटर कॉलेज। इसके माध्यम से लेखक ने उत्तर प्रदेश ही नहीं वरन् समूचे देश की विद्या संस्थाओं का कच्चा-चिट्ठा उसकी तमाम विकृतियों, विसंगतियों एवं विडंबनाओं के साथ उद्घाटित करके रख दिया है। इसमें श्रीधर दीक्षित जैसे आचार्य है, जो शिक्षा जगत के सारे आदर्शो व मूल्यों को ताक पर रखकर येन-केन प्रकारेण अपना उल्लू सीधा करने के लिए संस्था के मैनेजर बाबू राम नारायण वर्मा के रबर स्टैम्प बनकर उनके सभी सही गलत कामों को अंजाम देते है। ऐसे ही हिन्दी अध्यापक पद के लिए आए हुए एक अभ्यर्थी से प्रधानाचार्य जी ने पूछा- "हिंदी साहित्य के उपन्यासकारों में आपको सबसे अधिक कौन पसंद है?"

"गुलशन नंदा" अभ्यर्थी ने उत्तर दिया।

"आपने मेरा प्रश्न ठीक से सुन लिया है न?"

"जी हाँ"

"मैं समझता हूँ कि आपको कुछ भ्रम ही गया है। गुलशन नंदा नामक कोई उपन्यासकार हिंदी साहित्य में नहीं हुआ है। गुलजारी लाल नंदा नामक एक नेता अवश्य हुए हैं जो टैक्ट की कमी के कारण राजनीति में सफल नहीं हो पा रहे हैं।"[3] प्रधानाचार्य जी बोले।

अभ्यर्थी ने नम्रता पूर्वक कहा- "महोदय ! मुझे राजनीति से क्या लेना-देना। गुलजारी लाल नंदा होंगे कोई। मै उन्हें नही जनता। मै साहित्य का विद्यार्थी हूँ। साहित्य पढ़ता हूँ। आपने मेरी रुचि के उपन्यासकार का नाम पूछा मैने गुलशन नंदा बता दिया। आश्चर्य है आपने उनका नाम ही नहीं सुना!"[4]

प्रधानाचार्य जी को बुरा लगा। वह झल्लाकर बोले-

"आपने भगवतीचरण वर्मा, यशपाल, इलाचन्द्र जोशी, अमृतलाल नागर का नाम नहीं सुना है ? इनके कोई उपन्यास आपने पढ़े हैं ?[5]

"हाँ-हाँ ! मैंने सुने हैं इनके नाम इनके एकाध उपन्यास भी मैंने पढ़े हैं। परंतु आपने तो मेरी पसन्द का उपन्यासकार पूछा था सो मैंने उस लेखक का नाम बता दिया, जिसके उपन्यास मुझे सबसे ज्यादा पसन्द हैं।"[6] अभ्यर्थी ने उत्तर दिया।

प्रधानाचार्य जी ने अपना सिर पीट लिया। मन ही मन वह सोचने लगे- यह सब साहित्य-केंद्रों से दूर गाँव में पड़े रहने का प्रभाव है कि वे आधुनिक साहित्य से बिल्कुल कट ही गए हैं। इस बार विद्यालय के लिए पुस्तकें खरीदनी होंगी तो गुलशन नन्दा के उपन्यास अवश्य मँगवायेंगे। देखें क्या विशेषता है उनके उपन्यासों में।

गंगाप्रसाद मिश्र ने इस उपन्यास में गाँव के एक स्कूल का यथार्थ उन्होंने गाँव स्थित स्कूल के प्रधानाचार्य के माध्यम से दिखलाया है कि शहर और साहित्य केंद्रों से दूर गाँव के स्कूल में पड़े रहने के कारण वे आधुनिक साहित्य से बिल्कुल कट ही गए है।

मिश्रजी ने ग्रामीण समाज में स्थित शिक्षा-व्यवस्था को लेकर ही 'जहर चाँद का' नामक उपन्यास लिखा है। उस समय ग्रामीण समाज में शिक्षा की क्या व्यस्था थी, किस प्रकार शिक्षा दी जाती थी, शिक्षा का स्तर क्या था, शिक्षा को लेकर अंग्रेजों की क्या सोच थी? इस सब का ही

अपने इस उपन्यास में मिश्र जी ने विधिवत् प्रकाश डाला है, "लोगों को बड़ी परेशानी थी, उनके क्षेत्र में कोई स्कूल नहीं है। बिना स्कूल के उनके बच्चे अशिक्षित रह जाएंगे। एक प्रकार से बिना सींग-पूछ के जानवर। शिक्षा क्या है? वह जिसकी कल्पना कभी इंग्लैंड के लार्ड मैकाले ने की थी कि ऐसे लोग तैयार किए जाएँ, जिन्हें अपनी सभ्यता का कोई ज्ञान न हो। अपने देश के प्रति कोई लगाव न हो। अंग्रेजी राज्य की गाड़ी को खींचने के लिए क्लर्क की या छोटे-मोटे अधिकारी की शक्ल में अच्छे खच्चर साबित हो सके। वह मृग-मरीचिका, जो दूर से प्यास बुझाने वाला शीतल जल दिखाई दे, पर नैकट्य प्राप्त होने पर केवल आँखों को चौंधियाने वाली चमकीली रेत सिद्ध हो। वह शिक्षा, जिसे पाकर आदमी कुछ पुस्तकीय ज्ञान प्राप्त कर ले, सफेदपोशी का कायल हो जाए, हाथ-पैर से काम करने के काबिल न रहे। लोग परेशान थे।"[7]

ऐसे में ग्रामीण किसानों की जमीन की पैदावार दिन-पर-दिन घटती जा रही थी। खाने वालों की संख्या दिन-पर-दिन बढ़ती जा रही थी। उनके बच्चे स्कूल में पढ़ लेते तो शहर में जाकर नौकरी कर सकते। खेती की जमीन पर बढ़ता हुआ जरूरत से ज्यादा बोझ कुछ कम हो जाता। इसी चक्कर में बड़ी दौड़-धूप करके लोगों ने रामनगर में जूनियर हाईस्कूल स्थापित किया। खुशामद-बरामद करके उसे हाईस्कूल कराया और न जाने क्या-क्या तिकड़म करके इंटर कॉलेज बना दिया।

गंगाप्रसाद मिश्र ने 'जहर चाँद का' नामक उपन्यास में ग्रामीण समाज में स्थापित विद्यालय के विषय में उन्होंने कहा है कि विद्यालय क्या है? विद्या का घर। विद्यार्थी कौन है? जिनका उद्देश्य विद्योपार्जन करना है। इसीलिए विद्यालय क्या हुआ? वह स्थान जहाँ विद्यार्थी हों। विद्यार्थियों की इस देश में कमी नहीं है। दो-चार ऐसे व्यक्ति, जो अन्य कोई काम न कर सकते हो, कहीं भी कुछ जगह घेरकर घंटा बजवाने लगे, विद्यार्थियों की भीड़ एकत्र हो जाती है। यह न समझें कि जो विद्यालय में विद्यार्थी नामधारी होकर आते हैं, वह सच्चे अर्थों में विद्यार्थी होते हैं अर्थात- सचमुच ज्ञान-प्राप्ति के लिए व्याकुल होते हैं। उनकी कुछ मजबूरियाँ होती हैं। ऐसी व्यवस्था कि जब स्कूल जाना तथाकथित सभ्य-समाज में अनिवार्य समझा जाता है। माता-पिता और घर के दूसरे लोग भी उन्हें स्कूल भेजने को व्याकुल हो जाते हैं क्योंकि; वह अगर स्कूल न जायेंगे तो इतना उधम मचाएँगे कि घर, घर न रहेगा। एक तरह से अभिभावक भी मजबूरी में अपनी बला दूसरे की सिर मढ़ते हैं। अपने पाल्य के प्रति कर्तव्य की इतिश्री उसका स्कूल में

प्रवेश करवा कर हो जाती है। जिन बेचारों के सहकारी, मुंशी या नौकर नहीं होते हैं, उन्हें खुद विद्यालय जाकर अपने बच्चों को भर्ती करवाने का कष्ट उठाना पड़ता है। शेष के प्रतिनिधि ही इस महत्वहीन काम को अंजाम देते हैं। एक बार बच्चे की स्कूल में भर्ती हो जाने पर उसके संबंध में बिल्कुल भूल जाते हैं। कुछ में इतनी कर्तव्य-परायणता अवश्य होती है कि अगर उनके पाल्य का कोई प्रश्न-पत्र खराब हो जाता है अथवा वह अनुत्तीर्ण हो जाता है तो उसको पास कराने की कोशिश-पैरवी में विद्यालय पधारते हैं अथवा किसी भाग्यवान अध्यापक या प्रधानाचार्य के निवास स्थान को अपनी चरण-रज से पवित्र करते हैं। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए साम-दाम-दंड-भेद; सभी साधनों का प्रयोग करने में संकोच नहीं करते। कुछ ऐसे भी अभिभावक होते हैं, जो यह जानकर कि उनके लाडले को अध्यापक नामक किसी तुक्ष जीव ने हाथ लगाने का दुस्साहस किया है, विद्यालय जाने को विवश होते हैं। ऐसी परिस्थिति में यदि प्रधानाचार्य और अध्यापक टैक्टफुल न हुए तो अध्यापक को अपनी करनी का फल तत्काल भोगना पड़ता है और उसे भविष्य के लिए अच्छी-खासी सीख मिल जाती है। वकालत के पेशेवालों में यह बात अच्छी है कि वह इस स्तर पर नहीं उतरते। मास्टर साहब को अदालत में घसीट कर छठी का दूध याद दिला देते हैं। परिणाम यह है कि दिन पर दिन अध्यापक होशियार होते जा रहे हैं। वे केवल वेतन की चिंता करते हैं। जहाँ तक छात्रों का संबंध है, अध्यापक का रुख है कि छात्र दोज़ख में जाए या बहिस्त में, उनकी बला से ! अध्यापक को यह रुख अपनाने में बड़ी सहायता अभिभावक के रवैए से मिल रही है। अधिकांश अभिभावक केवल इतने से ही संतुष्ट हैं कि उनका लड़का या लड़की स्कूल जाता है और स्कूल समाप्ति के बाद घर वापस आ जाता है। उन्हें इतनी फुर्सत नहीं हैं कि वह जानकारी प्राप्त करें कि वह वास्तव में स्कूल पहुँचता है या नहीं? स्कूल पहुंचता है तो कक्षाओं में जाता है या नहीं? ऐसे भी छात्र हैं, जो महीनों घर से फीस वसूल करके चाय-मिठाई खाते रहते हैं, सिनेमा देखते रहते हैं, स्कूल जाने वाली लड़कियों का पीछा किया करते हैं, शहर-भर की सड़कों का चक्कर लगाते रहते हैं, पर विद्यालय नहीं जाते। ईश्वर की कृपा से दो-चार महीने बाद किसी दिन अभिभावक महोदय को वास्तविकता का पता लगता है और उनका यह सपना टूट जाता है कि बच्चा स्कूल में पढ़ रहा है! ऐसे मामलों में कभी तो अभिभावक अपने पाल्य को घेरकर अध्यापकों को कोसता हुआ फिर से बच्चे का नाम लिखवाने में सफल हो जाता है और कभी-कभी यह भी होता है कि लड़का पढ़ाई की दुनिया से इतनी दूर चला जाता है कि वह फिर इसमें नहीं बँधता।

ऐसे ही भिन्न-भिन्न प्रकार के छात्रों को लेकर रामनगर का विद्यामंदिर इंटर कॉलेज भी चल रहा है। विद्यालय में लगभग एक हजार विद्यार्थी थे। भवन बारह कमरों का ही था। फलस्वरूप तिहाई से ज्यादा लड़कों के बैठने की व्यवस्था शांति-निकेतन स्टाइल में होती थी। वर्षा या तेज धूप में यह विचार करके कि 'जान है तो जहान है'- छात्रों को मुक्त कर दिया जाता था। चूंकि सब लड़कों के बैठने के लिए पर्याप्त स्थान विद्यालय में था ही नहीं, इसीलिए विद्यालय की यह सामान्य-नीति थी कि छात्रों पर उपस्थिति के लिए बेजा दबाव न डाला जाए।

इस प्रकार विद्यालय के अधिकांश अध्यापकों को केवल अपने वेतन में रुचि थी। नेताओं के इस वाक्-जाल से वह जरा भी प्रभावित न थे कि अध्यापक राष्ट्र निर्माता है। उसे नई पीढ़ी का निर्माण करना है और देश के भावी नागरिकों को भविष्य में उनके द्वारा अदा की जाने वाली भूमिका हेतु तैयार करना है। मन-ही-मन वे इसे समाज के ठेकेदारों की मक्कारी समझते थे कि जब आर्थिक लाभ, सुख-सुविधा, सम्मान को वितरित करने का प्रश्न हो, तो उन्हें और लोग हस्तगत कर लें। जब शुष्क आदर्श को बाँटने का अवसर आए तो अध्यापक का पेट उसी से भर दिया जाए। उन्हें अपने पेशे पर कोई श्रद्धा नहीं थी। वह इसकी अनुपयोगिता के दिन-प्रतिदिन कायल होते जा रहे थे। उनमें से अधिकांश का भाव अपने कार्य के प्रति उसी प्रकार का था जैसे- "मजबूरी में भले घर की लड़की पेट भरने के लिए वेश्यावृत्ति अपना लेती है।"[८]

इन सद्गुणों से समृद्ध विद्यामंदिर इंटर कॉलेज अपने क्षेत्र में ज्ञानलोक का प्रचार-प्रसार कर रहा था। इस क्षेत्र के कर्णधारों को पूर्ण संतोष था कि उनके क्षेत्र में एक इंटरमीडिएट कॉलेज खुल गया है, जो उनके बच्चों को शिक्षा देकर उन्नति के सभी मार्गों के द्वार खोल दे रहा है।

मिश्रजी ने 'जहर चाँद का' अपने उपन्यास में अध्यापकों का समाज में क्या स्थान है, कितना सम्मान मिलता है, इस मुद्दे पर हो रही चर्चा का अध्यापक-कक्ष में हो रही बातों को निम्नवत प्रस्तुत किया है, "रहा होगा कोई वक्त जब गुरु की महत्ता थी। लोग उसे पूजनीय समझते थे। अब तो परिस्थिति बिल्कुल बदल गई है। अध्यापक को समाज में हेय दृष्टि से ही देखा जाता है। कलेक्ट्री का बाबू, पी.डब्ल्यू.डी. का ओवरसियर, पुलिस का सिपाही और वह वकील, जिसकी प्रैक्टिस बिल्कुल न चलती हो, समाज में अध्यापक से ज्यादा इज्जत पाता है। दूसरे पेशों में लोग गलत ढंग से पैसा कमाते हैं और समाज में उन्हें उसी के बल पर ऊँचा स्थान मिलता है, क्योंकि; दिन पर दिन लोगों का दृष्टिकोण भौतिकवादी होता जाता है, लेकिन अगर

बात इतनी ही होती तब भी समझ में आती। न जाने क्यों, अध्यापक को समाज में उसके स्थान से उतारकर फर्श पर फेंक दिया जाता है। कभी-कभी तो यह देखा जाता है कि उसकी इज्जत अपने से कम कमाने वालों जितनी भी नहीं है।"[9]

'जहर चाँद का' एक ग्रामीण विद्यालय से जुड़ा हुआ उपन्यास है। अतः उसे पढ़ते समय श्रीलाल शुक्ल द्वारा लिखित 'राग दरबारी' का स्मरण होना अस्वाभाविक नहीं है। प्रायः आलोचकों ने 'राग दरबारी' को व्यंग्यात्मक माना है। समूचे उपन्यास में एक भी आलोक-बिन्दु नहीं है। इसी तरह 'जल टूटता हुआ' (डॉ. रामदरश मिश्र) और 'अलग-अलग वैतरणी" (डॉ. शिव प्रसाद सिंह) भी ग्रामीण जीवन के विभिन्न आयामों को उद्घाटित करने वाले उपन्यास हैं तथा मास्टर शशिकांत (अलग-अलग वैतरणी) जैसे आलोक बिंदु है। 'जहर चाँद का' उपन्यास का कौशल भी एक ऐसा ही आलोक बिन्दु है। उसके व्यंग्य में दंश एवं साम्प्रतिक स्थिति के प्रति लेखक की आत्म-पीड़ा सन्निहित है, "जीवन के एक पक्ष को लेना ही यथार्थ नहीं है, वह तो खंडित यथार्थ होगा। उपन्यासकार का काम तो यथार्थ की समग्रता है।"[10]

संक्षेप में सोद्देश्यता, सार्थक व्यंग्यात्मकता, यथार्थ की समग्रता, समाजधर्मिता, विवरणात्मकता आदि अनेक दृष्टियों से प्रस्तुत उपन्यास प्रेमचंद की परम्परा और शैली का उपन्यास होता है। इसमें मिश्रजी ने शिक्षा-जगत से संबंधित अनेक समस्याओं का सांगोपांग सूक्ष्म एवं यथातथ्य चित्रण आवश्यकतानुसार विश्लेषणात्मक व व्यंग्यात्मक शैली में किया है। समस्या की एकसूत्रता ने उसके प्रभाव को घनीभूत किया है। उपन्यास का समग्र-प्रभाव पाठक के मन को बाँधने में सफल होता है।

गंगाप्रसाद मिश्र ने अपने एक अन्य उपन्यास 'सोनारवाणी के पार' में ग्रामीण पहाड़ी समाज की समस्याओं के विभिन्न रूपों को उजागर किया है। युगीन ग्रामीण पहाड़ी जीवन की एक प्रमुख समस्या थी 'स्त्री की संघर्ष गाथा'। "मिश्रजी के उपन्यास की प्रकृति मूलतः मनोवैज्ञानिक और रोमानी है किन्तु; इसके साथ साथ गहन सामाजिक चिंता लिपटी हुई है। इसकी मूल संवेदना स्त्री-पुरुष साहचर्य से उत्पन्न वह यथार्थ है, जो अपनी दुर्निवारता के कारण सार्वभौम बन जाता है और जिसके नियमन के लिए संपूर्ण नीतिशास्त्र कटिबद्ध रहता है। देश के प्रबल और उद्दाम आकर्षण तथा सामाजिक विधि -निषेधों और मर्यादाओं की दुर्वहता के बीच डूबती-उतराती प्रीति का धूप-छांही व्यापार इस उपन्यास का ऐसा आकर्षण है, जो रोमानियत

और प्रगतिशील को परस्पर पूरक बना देता है।"[11]

गंगाप्रसाद मिश्र का 'सोनारवाणी के पार' उपन्यास का कथानक, कथानायक अनुराग और कथानेत्री स्नेहलता के इर्द-गिर्द घूमता है। इन दोनों की प्रेमकथा, इनके नामों की तरह सार्थक होती है। कथानायक अनुराग एक ट्यूटर और संगीतज्ञ है। कथानेत्री स्नेहलता अपने ट्यूटर 'अनुराग' से जिस दिन ट्यूशन पढ़ने बैठती है उसी दिन से अनुराग उसे अच्छा लगने लगा। अतः वह अनुराग से प्रेम करने लगती है। परंतु अनुराग चरित्र की दृढ़ता को प्रकट करता है। प्रस्तुत उपन्यास में मिश्रजी ने स्नेह और अनुराग के बीच प्रणय प्रसंगों को इस प्रकार चित्रित किया है कि वे वासना के निचले स्तर से उठकर प्रेम के उदात्त स्वरूप को प्रस्तुत करते हैं। लौकिक प्रेम-वर्णन की उदात्ता के कारण ही आध्यात्मिक प्रेम का रूप ले लेता है।

डॉ० इंदु शुक्ला के शब्दों में- "स्त्री की यह संघर्ष-गाथा प्रगतिशील तो है ही, मर्यादा-पुष्ट भी है। इसमें देह तो है, देह की कामुक सड़ांध नहीं है। इसमें पुरुष का निषेध नहीं है, पुरुष की पशुता और बर्बरता का निषेध है। इसमें प्रेम सिर्फ रोमांस नहीं है, सामाजिक मर्यादाओं से बँधी प्रेरणा और रचनात्मकता का पोषक-देहधर्म है। आदर्श और यथार्थ की तनाव-भरी यह बुनावट एक सामाजिक-यात्रा है, जो लखनऊ से कश्मीर तक पाठक को ले जाती है और फिर उसी बिंदु पर छोड़ जाती है।"[12]

इसी प्रकार 'अकल' कहानी में पंडित गंगाप्रसाद मिश्र जी ने लखनऊ के मोहल्ले 'वजीरगंज वार्ड' के समाज की व्यथा की सफल अभिव्यक्ति की है, इसमें तत्कालीन भारतीय ग्रामीण समाज का सजीव वर्णन किया है। इस कहानी का प्रमुख पात्र लखनऊ के रविभूषण उर्फ 'छन्नू' है। जो आदर्श के मार्ग पर चलने की आशा रखता है। छन्नू खाना खाने के लिए मुनन्नी को ढूंढने निकल गया।

इतने में दरवाजे पर ही घर की महरी जसोदा बाजार से दही लेकर आती मिली - "कहाँ जात हो भइया? खाना तैयार है !"[13]

छन्नू ने अपनी बीचे की जेब में हाथ रखे हुए, बिना उसकी तरफ घूमे हुए कहा- "जरा रमेसर के यहाँ जा रहा हूँ। मुनन्नी को बुला लाऊँ।"[14]

उसने कदम बढ़ाया ही था कि महरी फिर बोली- "औ भैया ! दीदी (बिन्दा) तोहसे बताइन कछु।

ऊ जौन मंझली बहू के कानपुर वाले देवर है न....तो दीदी का कहै लाग कि- जब कम उमर मा कोऊ का लड़कन केर देखभाल करे का होता है तो ऊ उहका सोलह आना सत्यानाश कर देत हैं। दीदी से कहै कि लाग वहै हाल तुम्हार है। एक लड़का का सोनारी सिखौती हौ और एक का आवारागर्दी। ऊ तो अपन इत्ता कहि के पुरब मुँह केरि रास्ता लीहिन और दीदी तब से खूबै रोईं।"[15]

छन्नू ने कहा- "हूँ" और जिधर जा रहा था, उधर न जाकर आगे वाले मकान में धड़धड़ाता हुआ घुस गया। गुस्से में बड़बड़ाता भी जाता था- "इनको सालों को पंचायत जोड़ने से क्या मतलब ? हम लोग चाहे सुनारी सीखे, चाहे जो कुछ करें।"[16]

छन्नू के इस कथन से पंडित गंगाप्रसाद मिश्र जी ने यह बतलाया है कि इस समय लखनवी समाज एक-दूसरे की खिंचाई करना, आपस में झगड़ा लगवाना तथा भाई-भाई के फूट डालना आम बात थी।

छन्नू गुस्से से जौना बाबू के घर में घुसकर उनकी पैंट में लगी हुई बेल्ट को पीछे से कस के पकड़ा और अपने ताकतवर चौड़े पंजे से उनके दोनो पैर पकड़ के उन्हें छज्जे के जंगले से लटका दिया और कहा- "क्यों बे ! दीदी को क्या उपदेश देने गया था ? चला है बड़ा वहाँ से बाबू बन के ! अभी छोड़ देता हूँ नीचे ! भेजा खुल जायेगा।"[17]

उधर जैना की आँखें कपाल में चढ़ी जा रही थीं और उसके मुँह से बोल ही ना निकलता था कि वह कुछ कह सके। जीने पर चढ़ती हुई बिंदा ने जैना का मुँह देखा तो उसे हँसी आ गई, उस दिन को याद करके जब उसके पति के निधन होने के एक वर्ष बाद ही जैना बाबू ने उसको अपनी समवयस्का और प्रेम से वंचिता जानकर उसका उद्धार करने के निमित्त एक प्रेम पत्र लिखकर उसे दुःख और अपमान से खूब जलाया था। बिंदा छन्नू के वाक्य को दोहराती हुए बोल-

"वो क्या माफी माँगेंगे, माफी तुझसे मैं माँगूंगी।"[18]

बिंदा के आने पर छन्नू जैना बाबू को छोड़ देता है। जमीन पर पड़ा हुआ हंटर नीचे से बिंदा ने उठा लिया और ६-७ रसीद किए हंटिंग छन्नू की कोट वाली पीठ पर- "मैंने तुझसे कहा था कि मेरा बदला लो जा के। बहादुर बना है शोहदा कहीं का। अभी जरा हाथ से छूट जाते तो लेने के देने पड़ जाते, लटकता फांसी पर ! तुझे क्या जरूरत पड़ी थी, जो तू मेरी तरफ से फौजदारी

करने आया।[19]

छन्नू लाठी चलाने का बड़ा शौकीन था। एक दिन बिन्दा दादी को लाठी के पैंतरे के बारे में बता रहा था- "देख दीदी ! ठीक लाठी उठा। नहीं तो मैं बता देता हूँ कि ये हाथ मेरा सबसे ज्यादा रवाँ है और तूने, जैसा मैं बताता हूँ, उससे जरा भी बीस लाठी मारी कि तेरा हाथ उखड़ जाएगा। इसलिए तो उसको हथकटी कहते हैं। अच्छा हाँ मार जोर का हाथ ! देखना मैं कैसे लाठी घुमा के तेरे पहुँचे के पास पहुँचाऊंगा कि तेरी लाठी भी नीचे गिर जाएगी और मेरा भरपूर वार का हाथ आएगा। अच्छा हाँ ! पैंतरा ठीक करके।"[20]

"ऊ बाबा ! तो मैं नहीं मारती। मेरा हाथ-वाथ उखड़ जाएगा। एक लोटा पानी देने वाला भी तो कोई नहीं। तेरा ब्याह हो जाएगा, तब चाहे मेरे ऊपर लाठी के वार करना, चाहे चाकू के।"[21]

"क्या म्याऊं-म्याऊं करती है दीदी ! जब हंटर लेकर मारने खड़ी हो जाती है, तब तो बड़ी शेरनी हो जाती है। अब इस वक्त जरा लाठी उठाने में होश गुम हुए जा रहे हैं। हाँ, यह हथकटी का दाँव हो जाने दे, तब तमाचा और लँगोट बताऊंगा। जिनसे कनपटी और कूल्हे पर वार होता है। तू कैसी भारत माँ की बेटी है, जो ऐसी कायरता की बातें करती है।"[22]

बात यह है कि छन्नू के अखाड़े में दिल्ली के प्रसिद्ध लठैत ठाकुर दिग्विजय सिंह आए हैं और छन्नू उनसे लाठी सीखने में लगा हुआ है। चन्नू का कहना है कि वह मुझे अपना सच्चा शागिर्द बना चुके हैं और अपने सब दाँव उसे बता रहे हैं। अखाड़े वालों को भी इस बात में संशय नहीं है, क्योंकि ठाकुर साहब जब छन्नू को लाठी सिखाने लगते हैं तब उनकी आँखों की चमक और फुर्ती देखते ही बनती है। और यह छन्नू देखो कैसे बिजली हुआ जाता है। ठाकुर ने यह हाथ अभी बताया और यह बिल्कुल वैसे ही घुमाने लगा। भाई इसको भी कुछ परमात्मा की देन मिली है।

छन्नू की 'अकल' बहुत तीव्र थी, वह अपने अकल और बहादुरी से बड़े-बड़े कार्य कर देता है। अपनी दीदी से कहता है कि- "मेरी अकल से तो बहुत काम निकल सकते हैं। बशर्ते कि तू सामने न हो। लेकिन मैं इतना रुपया कमा कर करूँगा क्या ?"[23]

धीरे-धीरे छन्नू के अंदर देशभक्ति ने जन्म ले लिया। गरीबों की यथाशक्ति मदद करना, कोई गरीब को सतावे और उन्हें मालूम हो जाए, बस वे लाठी लेके पहुँचेंगे और उन महाशय का कचूमर

निकाल देंगे। इस प्रकार अब मोहल्ले के ही नहीं, लगभग सारे वजीरगंज वार्ड के नवयुवकों को पूर्णतया विश्वास है कि छन्नू दुनिया के जीवित महापुरुषों में हिटलर, मुसोलिनी, महात्मा गांधी, और रेम्ज मैकडॉनल्ड इत्यादि के नाम लिखकर ही बस कर दिया गया है, तो अपना फाउंटेनपेन निकालकर ठीक कर देते हैं- और लखनऊ के रवि भूषण उर्फ छन्नू।

पंडित गंगाप्रसाद मिश्र अध्यापक तो थे ही, प्राचार्य और जिला विद्यालय-निरीक्षक के पद पर अधिकारी भी रहे थे साथ ही अपने सारे लेखकीय जीवन में निरन्तर वह अत्यंत संवेदनशील चिंतक-कथाकार भी रहे हैं। उनकी सोच व्यक्ति और परिवार से शुरू होकर संपूर्ण समाज देश और फिर विश्व तक फैलती जाती थी। कुव्यवस्था और भ्रष्ट आचरण उनको बेहद नापसंद था। उनके सभी उपन्यास सामाजिक कुव्यवस्था का तीव्रता से विरोध करते हैं। यहीं पर उनकी प्रगतिशीलता निखार पाती है, जिसका बीजारोपण उनमें हिन्दी के कथा सम्राट प्रेमचंद और कवि सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' जी के अंतरंग सानिध्य से हुआ था। लखनऊ के साहित्यिक परिवेश के यशपाल, भगवतीचरण वर्मा, अमृतलाल नागर, रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' सुरेश अवस्थी, रामविलास शर्मा जैसे साहित्यिक स्तंभों की मैत्री और आत्मीय संबंधों की उर्वरता से उनकी प्रगतिशीलता को दीप्ति मिली थी। उनकी सर्जना को यही प्रगतिधर्मिता लोक की गहराई से जोड़ती थी और कथा सृजन के उन विषयों की तलाश में अपनी अर्थवत्ता पाती थी, जिनका संबंध समाज के उपेक्षित, त्रस्त, पीड़ित और वंचित मनुष्यों से है- उन मनुष्यों का समूह जिसे सामाजिक अन्याय झेलना पड़ा है और अभी भी वह सामाजिक अन्याय के दंश झेलने को अभिशप्त है। मिश्रजी का उपन्यास 'मुस्कान है कहाँ' की कथा उपेक्षित और उत्पीड़ित बच्चों का सामाजिक यथार्थ है, जो भीख मँगवाने का धंधा करने वाले बदमाशों के गिरोह के द्वारा अपंग बनाए जाते या अवैध संतानों के रूप में कूड़े के ढेर पर फेंक दिए जाते हैं अथवा जो जूठन खाने की विवशता को ढोते फिरते हैं या कि जो माता-पिता के अति-व्यस्तता से उत्पन्न उपेक्षा के बीच पलते और नशे के शिकार होते हैं, और खेल व मनोरंजन को तरसते हैं। ये सभी बचपन में ही 'बचपने' से वंचित रह जाते हैं।

मिश्रजी का यह उपन्यास १९८२ ई. में संभावना प्रकाशन, हापुड़ से छपा था। "इसकी लिखने की प्रेरणा लेखक को अपने एक परम आत्मीय मित्र के पुत्र के असमय और कारुणिक निधन से मिली थी। उसकी कुसंगति में नशे का डोज अधिक ले लिया था। एक अध्यापक के नाते मिश्रजी में संवेदनशीलता आजीवन जीवन्त रही। इसके पहले भी वह ऐसी अनेक

कहानियाँ लिख चुके थे, जो बच्चों पर केंद्रित थी, लेकिन इन कहानियों में सामाजिक अन्याय, उत्पीड़न और उपेक्षा की बात इतनी व्यापक रूप में उभर नहीं पाई थी। 'मुस्कान है कहाँ' पारिभाषिक रूप से उपन्यास नहीं है बल्कि; गंगाप्रसाद मिश्र ने इसे 'अ-उपन्यास' ही कह दिया है। बहरहाल की आर्थिक, सामाजिक और विभिन्न वर्ग के बच्चों के जीवन से जुड़ी कहानियाँ 'मुस्कान है कहाँ' में संवेदना का व्यापक-वृत्त बनी है।"[24]

'मुस्कान है कहाँ' उपन्यास में तीन खंड है और कुल इक्कीस कथाएँ या भाग हैं। यह सभी कथाएँ समाज के मध्यवर्ग एवं निम्न मध्यवर्ग बच्चों से संबंधित है। इन दोनों वर्गों के बच्चे समाज में सबसे अधिक उत्पीड़ित, तिरस्कृत और उपेक्षित होते हैं।

(२.) नगरीय समाज :

पिछले कुछ दशकों में जनसंख्या में वृद्धि के साथ-साथ जनसंख्या का ग्रामीण क्षेत्रों से नगरीय क्षेत्रों में पलायन और स्थानांतरण भी हुआ है। इससे नगरीकरण बढ़ा तो अपराध और बाल-अपराध, मदिरापान और मादक वस्तुओं का सेवन, आवास की कमी, भीड़-भाड़ और गंदी बस्तियाँ, बेरोजगारी और निर्धनता, प्रदूषण और शोर, संचार और यातायात नियंत्रण जैसी कितनी ही अपूर्व समस्याएँ भी उत्पन्न हुई हैं। परंतु अगर नगर में तनावो और दबावों में उलझी जिन्दगियाँ हैं, तो नगर सभ्यता और संस्कृति के केंद्र भी हैं। नगर एक व्यक्ति को अपनी आकांक्षाओं को प्राप्त करने के अवसर प्रदान करते हैं। हमारे देश का भविष्य जितना ग्रामीण क्षेत्रों के विकास से जुड़ा है, कमोबेश उतना ही वह नगरों और महानगरों के क्षेत्रों के विकास से भी जुड़ा है।[25]

अब हम पंडित गंगाप्रसाद मिश्र जी के कथा साहित्य में नगरीय समाज का विश्लेषण करेंगे।

भारत निःसंदेह एक कृषि प्रधान देश है पर आधुनिक विकास और औद्योगिकीकरण के चलते ग्रामीण जनता का बहुत तेजी से नगरों की ओर पलायन हुआ। जनसंख्या का ग्रामीण क्षेत्रों से नगरीय क्षेत्रों में जाना ही 'नगरीकरण' कहलाता है। परिणामस्वरूप जनसंख्या का बढ़ता हुआ भाग ग्रामीण स्थानों के बजाय शहरी स्थानों में रहने-बसने लगा है। इस औद्योगिकीकरण भी एक कारक है। औद्योगिक संस्थानों में कार्य करने की होड़ में नगरीय जीवन-यापन करने वालों की वृद्धि होती गई। पंडित गंगाप्रसाद मिश्र जी ने अपने कथा-साहित्य में नगरीय समाज

का चित्रण स्पष्ट रूप से किया है। इन्होंने नगरीय समाज की समस्याओं तथा विषमताओं को बेबाक ढंग से उजागर किया है। ' '

' , , ,

, , , , ,

, ,

' '

,

,

,

- -

' '

' '

-

,

,

- " "[26]

- " , ?

?"[27]

- "

, [28]

, -

- -

-

का तैसा घूरे पर पड़ा चीखे जा रहा है। वह जिस कपड़े में वह लिपटा हुआ था, उसका एक सिरा उसके मुँह पर आ गया है। अभिजात लपककर गया। उसने उस सस्वर बंडल को उठा लिया। उसका मुँह ठीक से खोल दिया। स्थिति के परिवर्तन से या अभिजात के शरीर की गर्मी से बच्चे का रोना कुछ रुका। कैसा छोटा-सा मुँह है। अधखुली-अधमुँदी आँखें कैसी प्यारी लग रही है। नन्हे-नन्हे हाथ पैर कैसे...!

मोहल्ले के लोग मना करते रह गए- "क्या करते हो अभय? न जाने किसका बच्चा है। पुलिस वाले यहाँ आएँगे, तो तुम्हें बहुत परेशान करेंगे।"[29] यह नगरीय जीवन स्पष्टत: एक अलग प्रकार की व्यावहारिकता प्रस्तुत करता है। गंगाप्रसाद मिश्र ने नगरीय जीवन में माया, मोह एवं स्वार्थ को शहर का एक अंग माना है। पर जहाँ व्यक्ति अपने स्वार्थ-भंग के भय से किसी दूसरे की मदद नहीं करना चाहता है। मिश्रजी के उपन्यास 'मुस्कान है कहाँ' में नगरीय जीवन की ऐसी बस्ती का वर्णन है- "वह उस प्रकार की बस्ती थी, जिसके पास-पड़ोस से गुजरने पर तथाकथित सभ्य लोग नाक में रुमाल लगा लिया करते हैं। वह एक गंदे नाले के पास बसी हुई थी, जिसमें उस महानगर की सारी गंदगी वह कर जाती है।"[30] उसी महानगर में न जाने कितने करोड़पति ऐसे थे, जिनके लिए धन कोई समस्या नही थी- चाहे जितना खाएँ-पिएँ, चाहे जितना जुए में लुटाएँ, चाहे जितनी ऐय्याशी करें, उनका धन बढ़ता ही जाता था। उसे छिपाने के लिए उन्हें न जाने कितना-कितना दिमाग लगाना पड़ता था; न जाने कितने लोगों की जेबें भरनी पड़ती थीं और न जाने कितनों का मुँह बन्द करना पड़ता था। वह कभी-कभी किसी मंदिर में एक बड़ी रकम गुप्त दान के रुप में दे देते थे, लेकिन उनकी समस्या जहाँ-की-तहाँ रहती थी। जाहिर है कि नगरीय समाज में स्वार्थ अधिक देखने को मिलता है।

कहतें हैं कि 'ईश्वर जब देता है तो छप्पर फाड़ कर देता है। परन्तु साथ वहीं सबको, सबकुछ नहीं देता। उस बस्ती में ईश्वर ने अपनी सृष्टि का सबसे बहुमूल्य तोहफा बड़ी उदारता से दिल खोलकर दे रखा था। बच्चे, बच्चे और बच्चे! जहाँ देखो, तहाँ बच्चे। बिना माँ के बच्चे। झोपड़ियों में बच्चे। पेड़ तले और आसमान तले बच्चे। बिना बाप के बच्चे और बिना माँ-बाप के बच्चे उस बस्ती में रोते-चीखते दिखाई देते थे। एक घूँट दूध माँ की छाती का, बकरी का, गाय-भैंस का; जिन्हें मयस्सर नहीं था, वे बच्चे कल जिंदा थे, आज जिंदा हैं, न जाने कब तक जिंदा रहने वाले हैं। वे रोते-रोते आसमान सिर पर उठा लेते थे, पर जब उसका दिल न पसीजता था,

जिसकी स्तुति या कसीदा पढ़ने में न जाने कितनी भाव-प्रवणता और वाक् चातुर्य दिखाया गया है, तब उसी के द्वारा बनाया हुआ आदमी क्यों प्रभावित होगा!'[31] ईश्वर का सबसे बड़ा चमत्कार वहाँ यह दिखाई देता था कि बिना चुल्लू भर दूध या चार कौर अन्न के भी अधिकांश बच्चे जल्दी मरते न थे। ईश्वर को सबसे ज्यादा प्यारी होने के कारण, सबसे अधिक गौरवान्वित इस भारत-भूमि से वे चिपके रहते थे, इसे छोड़कर न जाना चाहते थे। ऐसा नहीं था वहाँ बच्चे या वयस्क भूखों न मरते थे। मरते थे, खूब मरते थे। दिन-रात मरते थे, हर वक्त मरते थे। लेकिन यह मानना पड़ेगा कि बच्चे से लेकर बूढ़े तक, वहाँ थे लोग बड़े सख्त जान।[32]

गंगाप्रसाद मिश्र के अपने उपन्यास 'मुस्कान है कहाँ' में नगरीय समाज का यथार्थ चित्र प्रस्तुत किया है। समाज में कैसे-कैसे लोग हैं जो अपने स्वार्थ के कारण एक-दूसरे की मदद नहीं करना चाहते हैं, चाहे वह मध्यवर्गीय समाज हो या निम्न वर्गीय समाज। परंतु मिश्र जी ने नगर की समस्याओं के साथ-साथ इसके उज्जवल पक्ष को भी अभिव्यक्त किया है। स्वार्थ की दुनिया में कुछ लोग ऐसे भी होते हैं, जो आपसी सहयोग और आपसी सौहार्द्र को स्थापित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। सांप्रदायिकता नगरीय समाज की ज्वलंत समस्या के रूप में सामने आती है तथा मिश्र जी ने अपने उपन्यास के माध्यम से सौतेली माँ की निर्दयता का चित्रांकन इस प्रकार दिखलाया है- "इस उपन्यास की तीसरी कथा बतसिया को झोपड़ी के पास झोपड़ी में रहने वाले बदलू के तीन बच्चों सरजू, कैलाश और मुन्नी की है। बदलू की पत्नी की मृत्यु चौथे बच्चे के जन्म के समय हो गई थी। दूसरी कथा में पहली बार उभरने वाला भड़भूजा जगन्नाथ यहाँ भी उपस्थित है। बदलू चमेली को घर ले आता है। और बीवी बनाकर रखता है। वह तीनों सौतेले बच्चों को सताती और त्रस्त करती है। तीनों बच्चों से वह काम कराती है। सरजू पालिश करता है और कैलाश रद्दी कागज बिनता-फिरता है। जो पैसे कमाते हैं, चमेली उनसे छीन लेती है। वह जब-तब मुन्नी को पीटती रहती है।"[33] दरिद्रता और उससे उपजी भूख के साथ जाति-कुजाति के प्रश्न को मिश्र जी ने अपने उपन्यास 'मुस्कान है कहाँ' में खूबसूरती से उभारा है।

नगरीय समाज में स्वतन्त्रता बड़ा मुद्दा नहीं होती, वे नौकरी, व्यवसाय तथा शिक्षा के क्षेत्र में इसे लक्षित कर सकते हैं। मिश्रजी ने अपने उपन्यास 'सोनारवाड़ी के पार' में स्त्री-पुरुष के पारस्परिक आकर्षण को दर्शाते हुए बताया है- भारतीय समाज, व्यक्ति को मात्र प्रेम के लिए प्रेम करने की मान्यता नहीं प्रदान करता। यहाँ प्रेम का विवाह में परिणत होना आवश्यक है। मिश्रजी

ने आगे घटित होने वाले ऐसे घटनाक्रम का दो स्थानों पर स्पष्ट संकेत बड़ी कलात्मकता से किया है।- "किसी विरहणी की भाँति सदैव तड़पने और सिर पटकने वाली इस पहाड़ी सोनारवाणी नदी के किनारे स्थित डाक-बँगला स्नेहलता को अपनी पिछली कश्मीर-यात्रा में ही इतना पसंद आ गया था, जिसे प्रथम दृष्टि में प्रेम हो जाना कहा जा सकता है।"[34] उपन्यास की प्रमुख नारी पात्र 'स्नेह' किताबें-कापियाँ लेकर अपने ट्यूटर अनुराग से जिस दिन ट्यूशन पढ़ने बैठती है उसी दिन से अनुराग उसे अच्छा लगने लगा। "प्रथम दृष्टि में ही अनुराग के व्यक्तित्व ने उसे अपनी ओर आकर्षित कर लिया।"[35] और उसके इतना कह देने भर से कि यदि वह ठीक से अपना काम करके नहीं लाएगी तो वह चला जाएगा- स्नेह विह्वल हो जाती है। अनुराग किन्हीं भी कारणों से जब-जब स्नेह से दूर रहता है, स्नेह की मन:स्थित 'सोनारवाणी' जैसी हो जाती है। उपन्यास के अंत में तो वह पूरी तरह विरहणी होकर तड़पती और सिर पटकती है।

गंगाप्रसाद मिश्र ने अपने उपन्यास 'जहर चाँद का, में इस देश की एक ज्वलंत समस्या हमारी वर्तमान विकलांग एवं दूषित शिक्षा प्रणाली को ग्रामीण समाज एवं नगरी समाज की शिक्षा-प्रणाली की समस्याओं एवं विषमताओं को समानान्तर रूप से उजागर किया है। उपन्यास के केंद्र में रामनगर में स्थित विद्या मंदिर इंटर कॉलेज हैं। इसके माध्यम से लेखक ने उत्तर प्रदेश ही नहीं वरन् समूचे देश की ग्रामीण एवं नगरीय समाज की विद्याशिक्षण संस्थाओं का काला चिट्ठा उनकी तमाम विकृतियों, विसंगतियों एवं विडंबनाओं के साथ उद्घाटित करके रख दिया है। मिश्रजी के शब्दों में- "हमारी वर्तमान शिक्षा प्रणाली जिस व्यवस्था के अनुसार चल रही है, उसके द्वारा वह छात्रों की योग्यता में आवश्यक अभिवृद्धि नहीं कर पा रही है। चारो तरफ इस बात का रोना रोया जा रहा है कि आज के हाईस्कूल-इंटर पास छात्रों की तो बात ही क्या है, स्नातक भी किसी काम के नहीं सिद्ध हो रहे हैं। इसका प्रमुख कारण भाषा-शिक्षा के प्रति हमारी उदासीनता रही है।[36] इसी उपन्यास में मिश्रजी ने लखनऊ नगर के 'कौशल' जो इस उपन्यास का प्रमुख पात्र है, के लगन और सम्मान को बहुत ही व्यवस्थित ढंग से दर्शाया है। लेखक की समूची संवेदना एवं सहानुभूति इस पात्र को मिली है। एक तरह से स्वयं आदर्श अध्यापक है। लेखक आदर्शवादिता की कौशल के चरित्र में अभिव्यंजित हुई है। उपन्यास का नायक कौशल एक मेधावी व्यक्तित्व का धनी है। उसके छात्र-जीवन एवं यूनिवर्सिटी में ग्रहण की गयी शिक्षा के चित्रण के द्वारा मिश्र जी ने विगत पीढ़ी के विद्या-व्यसनी विद्वान अध्यापकों का सुनहरा चित्र अंकित किया है, जो आज के विद्या-विरोधी वातावरण को अधिक गहराई से उभारता है। कौशल

का अपने अध्यापकों के प्रति कितना लगाव और सम्मान था, उपन्यास में मिश्रजी उसे इन शब्दों में चित्रित किया है- "लखनऊ में जब तक कौशल रहा, बनर्जी साहब उसके स्थाई परामर्शदाता रहे। हाईस्कूल तथा इंटर, ब्राह्मण कॉलेज से कौशल ने इन्हीं अध्यापकों की छत्र-छाया में पास किया। उसके व्यक्तित्व पर इन अध्यापकों का प्रभाव केवल लिखने-पढ़ने तक ही नहीं सीमित था। जाने-अनजाने इन अध्यापकों ने उसके व्यक्तित्व कोन उसी प्रकार तराशा, बनाया और सँवारा था- जैसे मूर्तिकार किसी अभिलाषित मूर्ति का निर्माण करता है। उस कॉलेज से जब कौशल विश्वविद्यालय गया, तो उसके कुछ संस्कार बन चुके थे। कुछ जीवनादर्शों ने उसके मन में स्थान बना लिया था और कुछ ऐसे सिद्धांत उसने अपना लिए थे, जिस पर वह प्राण निछावर कर सकता था।"[37]

कौशल के जीवन का स्वप्न था- 'एक आदर्श शिक्षक बनना'। इसकी पूर्ति हेतु वह सदैव संघर्षशील रहता है- भीतरी एवं भारी दोनों स्तरों पर। भीतरी संघर्ष हंसा को लेकर शुरू होता है। हंसा एक सुंदर, भावुक, मुग्धा छात्रा है। वह उसे प्रेम पत्र लिखती है कि उसका आंतरिक मन इस भाव को चाहने लगता है। परंतु उसका चेतन मन उसका विवेक, उसका आदर्श, उसे रोकता है। श्रेय एवं प्रेय की कश्मकश मिश्रजी ने कलात्मकता से व्यंजित की है। उनकी लेखनी का संयम यहाँ देखते बनता है। बाह्य संघर्ष आचार्य, मैनेजर राम नारायण वर्मा, सहयोगी शिक्षकगण तथा कथित छात्रों से होता है क्योंकि; उसका आदर्श इन लोगों की शैक्षणिक प्रवृत्तियों के आड़े आता है।

गंगाप्रसाद मिश्र ने अपने अंतिम उपन्यास 'राग साइड' में लखनऊ समाज के अंतर्गत एक ऐसे परिवार का वर्णन किया है, "जहाँ खेल ही उस परिवार के मुखिया के जीवन का अंतिम लक्ष्य है। चूँकि मिश्रजी भी छात्र-जीवन से अच्छे खेल-प्रेमी होने के साथ ही एक अच्छे खिलाड़ी भी रहे हैं और अध्यापन से लेकर प्राचार्य की जिम्मेदारी निभाने तक अच्छे कोच भी। इसलिए खेल उनकी कई कहानियों का विषय बना है।"[38]

'परिभाषाओं की कगार' पंडित गंगाप्रसाद मिश्र की अत्यंत प्रसिद्ध कहानी है। यह बैडमिंटन खिलाड़ी मोना पर केंद्रित है। मोना दस साल इंतजार के बाद पैदा हुई थी। माँ भी उसे पारंपरिक गृहणी बनाने की कामना के बावजूद उसके पिता की इच्छानुकूल बेटी के बजाय बेटा मानती थी। पर पिता की आकांक्षानुरूप विश्वप्रसिद्ध खिलाड़ी बनाने के पक्ष में नहीं थी।

विश्वविद्यालय की शिक्षा के दौरान मोना अंतर-विश्वविद्यालय अन्तर-राज्य बास्केटबॉल प्रतिस्पर्धाओं की सर्वश्रेष्ठ खिलाड़ी थी। पर पत्नी के दबाव के कारण पति को शीघ्र ही मोना का विवाह कर देना पड़ा।

प्रायः रूढ़िवादी माँ, पारंपरिक परिवार एवं पति के खिलाड़ी होने के बावजूद विश्वविद्यालय की पढ़ाई के बाद मोना को बास्केटबॉल कोर्ट के बजाय परिवार के पारंपरिक जीवन का ही होते जाना पड़ा। उस समय तो वह हतप्रभ ही रही, प्रसन्नता से मोना के पिता के यह खबर ले आने पर कि मोना को टोक्यो जाने वाली भारत की टीम में चुन लिया गया है। तीन हफ्ते की दिल्ली में कोचिंग के बाद टीम के साथ मोना को टोक्यो के लिए फ्लाई कर जाना है। आज बोले थे कि आज मैं कितना खुश हूँ। आज मेरा एक सपना सच हो गया। दूसरी तरफ मोना की सास का मौन टूटा था- आपकी बेटी अब मेरी बहू है, वह वैसे ही रहेगी, जैसे बहुएँ रहती आयी हैं। "मैं यह नहीं गवारा कर सकती कि मेरी बहू जाँघिया-बनियान पहनकर लोगों के सामने शरीर का प्रदर्शन करे।"[39] बिना चाय-पानी किए उसके पिता बांहों से सीने को दबाए तुरंत उठकर चले गए थे। बेटी के वैवाहिक-जीवन में विघटन क्यों पैदा करते।

इसी कहानी को विस्तार देकर पंडित गंगाप्रसाद मिश्र जी ने अपना अंतिम उपन्यास 'रांग साइड' लिखा है जिसमें एक जागरूक खेल-प्रेमी ने बेटे के अभाव में अपनी तीन बेटियों को खिलाड़ी बनाने का निश्चय कर लिया। उन तीन बहनों को खेल की दुनिया में क्या-क्या अड़चनें आयी, समाज ने उन्हें किस रूप में देखा, उनका दांपत्य जीवन कैसा रहा और जीवन के कैसे खट्टे-मीठे अनुभव उन्हें हुए, यह छोटा उपन्यास उन्हीं तीन बहनों की कहानी है। मिश्र जी के शब्दों में- "हम चाहते तो हैं कि हमारे देश की महिलाएँ भी खेल-कूद में भाग लें परंतु हमारी सामाजिक, आर्थिक, और राजनीतिक व्यवस्था उन्हें कितना सुविधा देती है। इस पर गंभीर चिंतन की आवश्यकता है।"[40]

"रांग साइड उपन्यास में सिर्फ मोना और उसके पिता की तथा स्वयं मोना के खेल जीवन से जुड़ी महत्वाकांक्षाओं को ही विस्तृत फलक पर चित्रित नहीं करता। यह उपन्यास अपने देश के लगभग पूरे खेल वातावरण को यथार्थ रूप में उपस्थित करता है।"[41]

'रांग साइड' उपन्यास में पंडित गंगाप्रसाद मिश्र जी ने चैतन्य स्वरूप श्रीवास्तव और उनकी तीन बेटियों मोना, दर्शिका और अलका के जीवन संघर्ष को दिखलाया है- "इन तीनों को

'परिभाषाओं की कगार' की मोना की तरह चैतन्य स्वरूप अलग-अलग खेलों की विश्व प्रसिद्ध खिलाड़ी बनाना चाहते हैं जबकि मोना की माँ प्रतिभा गृहस्थ-जीवन और मातृत्व की सार्थकता में ही नारी-जीवन को सफल मानने का परंपरावादी सोच रखती हैं। 'रांग साइड' की मोना परिभाषाओं की कगार' की मोना ही बनी रह गई है, चैतन्य-प्रतिभा परिवार के सुखद पारिवारिक जीवन अन्य दो बहनों दर्शिका-अलका से माँ प्रतिभा के स्पष्ट विचारों वाले संवादों के साथ ही पहले अध्याय में 'परिभाषाओं की कगार' की मोना की कथा को खोलते और विस्तार देते हुए मिश्रजी ने 'रांग साइड' के संपूर्ण उपन्यास की पृष्ठभूमि तैयार की है।"[42]

मिश्रजी इस उपन्यास के माध्यम से लखनऊ के नगरीय जीवन में एक ऐसे परिवार का यथार्थ चित्रण प्रस्तुत किया है, जो खेल के प्रति समर्पित है। वह खेल को अपने जीवन का ध्येय बना लेता है। चैतन्य स्वरूप श्रीवास्तव जो उपन्यास के प्रमुख पात्र हैं। अपने जीवन काल में खेल में आगे न जा सके परंतु उनका खेल के प्रति समर्पण कम नहीं हुआ। बेटे की चाह रखने वाले चैतन्य स्वरूप को तीन बेटियाँ हुई। भारतीय समाज में पुत्र की कामना पारिवारिक-जीवन के सोच की कमजोरी है। इसीलिए बेटे की चाह में चैतन्य स्वरूप श्रीवास्तव को दो-दो वर्ष के अंतराल पर तीन बेटियों ने जन्म लिया। इसके बाद स्वरूप दम्पत्ति ने यह निर्णय लिया कि लड़के की उम्मीद में और लड़कियों को जन्म देने का खतरा वे नहीं उठा सकते। अधिक संतान हो जाने पर उनकी सही ढंग से परवरिश कर सकना, उन्हें अपने स्तर के अनुरूप रख सकना, अच्छी शिक्षा दे सकना और उच्च स्तर के परिवारों में ब्याह कर सकना संभव नहीं था। "लड़कियों के विवाह के अवसर पर वर-पक्ष द्वारा की जाने वाली पैंतरेबाजी और दहेज के रूप में माँगी जाने वाली बेतहाशा बढ़ती रकम भी उन्हें यह कदम उठाने को मजबूर कर रही थी।"[43]

कहा जाता है कि लड़कियाँ घास-फूस की तरह बढ़ती हैं। देखते-देखते उनकी कद-काठी ऐसी निकलने लगती है कि आश्चर्य होता है। दो-तीन साल में अगर कोई देखता है तो देखता ही रह जाता है या वह बिना रुके कह सकता है- "अरे नन्ही सी मुनिया इतनी बड़ी हो गई।"[44] स्वरूप साहब और उनकी पत्नी प्रतिभा दोनों ही गौर वर्ण के लम्बे-तगड़े थे। उनकी तीन बेटियाँ भी लंबे कद की और स्वस्थ शरीर वाली थी। चैतन्य स्वरूप श्रीवास्तव साहब लखनऊ में नियुक्त थे। मोना बी.ए. पास करके विश्वविद्यालय में एम.ए. कर रही थी। उन्नीस साल उम्र के कारण जहाँ युवावस्था का पूरा प्रमाण उसके शरीर पर दिखाई देता था, वहीं माता-पिता से मिला हुआ स्वास्थ्य, अच्छी पौष्टिक खुराक के कारण चेहरे पर झलकता ईंगुरी रंग उसे दर्शनीय बना देता

था। बालिका डिग्री कॉलेज की वह स्पोर्ट चैंपियन थी और अपने स्तर की प्रांतीय प्रतियोगिताओं में न जाने कितने कीर्तिमान स्थापित कर चुकी थी। यूनिवर्सिटी में आते ही वह अपने रूप और प्रभावशाली व्यक्तित्व के कारण चर्चा का विषय बनी थी। बैडमिंटन के कोर्ट पर उसके खेल ने न जाने कितने प्रशंसक बना दिए थे। जो भी जिंदा दिल के मालिक थे, उसकी कृपा-दृष्टि के अभिलाषी थे। उपन्यास में मिश्र जी ने मोना की प्रतिभा का उल्लेख इस प्रकार किया है- "दिसम्बर में जब लखनऊ में ही इंटर-वर्सिटी बैडमिंटन चैंपियनशिप शुरू हुई, तो मोना की एक के बाद एक विजय ने उसे सभी छात्र-छात्राओं और स्टाफ की आँख का तारा बना दिया। अंत में जब लखनऊ विश्वविद्यालय प्रतियोगिताओं के फाइनल में विजयी हुआ, तो सभी ने महसूस किया कि यह विजय मोना की बदौलत ही मिली है।"[45]

गंगाप्रसाद मिश्र का उपन्यास 'विराग' अपने प्रकाशन काल और बाद में भी (१९४०-१९५० तक विशेष रूप से) प्रेमचंद की परंपरा के प्रमुख प्रगतिशील उपन्यासों में गण्य रहा है। इस उपन्यास में यह दिखाया गया है कि नगरीय समाज में, आदर्शवाद और घिनौने-यथार्थवाद, दोनों विद्यमान है। जिस तरह समाज में सभी लोग साथ चलते हुए मालूम होते हैं उसी तरह 'विराग' उपन्यास के पात्र भी। न वे आदर्शवादियों के समान हमसे बहुत आगे हैं कि हम उन्हें उड़कर भी न पकड़ सके और न यथार्थवादियों के समान वे बहुत पीछे कि हम उनके पीछे रह जाने पर, उन्हें कुछ नीची दृष्टि से देखें।

मिश्रजी ने इस उपन्यास में नगरीय समाज को धार्मिक और सांस्कृतिक रूप से ग्रामीण समाज से भिन्न बताया है। धार्मिक आस्था की कमी नगरीय समाज में प्रायः देखने को मिलती है। 'विराग' के विषय में कही गई इस कथन से स्पष्ट हो जाता है- "इन आए दिन आने वाले संकटों ने विराग की भावना पर जबर्दस्त प्रभाव डाला था। अकारण ही उसके जीवन को कंटकाकीर्ण कर देने वाला यदि इस सृष्टि में कोई ईश्वर है, तो उसके ऊपर से उसका विश्वास धीरे -धीरे उठता जा रहा था।"[46] इस प्रकार नगरीय जीवन एक अलग व्यवहारिकता की झलक प्रस्तुत करता है। यही कारण है कि मिश्र जी ने माया, मोह और स्वार्थ को नगरीय जीवन का एक अंग माना है। इस उपन्यास की प्रमुख पात्र 'विराग' है और उसी के नाम पर उपन्यास का नाम 'विराग' रखा गया है। 'विराग' लेखक के शब्दों में- "चंचल नेत्रों में लहराता हुआ एक समुद्र या उनकी स्वाभाविक लाली से फूटे से पड़ते हुए अंग। काले केश और उन्नत वक्ष स्थल। विराग सोलह वर्ष की अवस्था से ही विधवा है।"[47] समाज की यह विडंबना है कि घरवालों की

संकीर्णता से एक ऐसे रईस वर के साथ ब्याही गई, जिसमें वेश्यागामी इत्यादि होने के सभी दुर्गुण थे।

इस उपन्यास का दूसरा प्रमुख पात्र 'अचल' है। जिसकी खानदानी गुण थे शान-शौकत, फिजूलखर्ची, लोक दिखावा और ब्राह्म आडम्बर जो कि आधुनिक भारत को पतन की ओर ले जाने में विशेष रूप से सहायक सिद्ध हुए हैं। 'अचल' चार भाइयों में सबसे छोटा है। माता-पिता के गुजर जाने के बाद 'अचल' भैया-भाभी के जिम्मे में आ गया। 'अचल' के कॉलिज में भर्ती होने की चर्चा में भैया हंसकर बोले- "वाह! अब क्या मैं इतना कंगाल हो गया हूँ, जो अपने भाई को पढ़ा न सकूँगा।"[48] इस पर भाभी साहिबा ने देखा कि उनकी बात खाली जा रही है, तो तिलमिला उठी उन्होंने कहा- "नहीं तुम तो बड़े रईसजादे हो! पर पढ़ावे तो उसे, जिसका पढ़ने में मन लगे। इसे तो रंडी-मुंडियों के पास बैठने से ही फुर्सत नहीं मिलती है। यह पढ़ेगा किस बखत?"[49] मिश्रजी ने नगरीय समाज के अंतर्गत इस उपन्यास में 'अचल' के पारिवारिक कलह को दर्शाया है कि किस तरह उसके पढ़ाई को लेकर उसकी भाभी को अच्छा नहीं लगा। इस तरह 'अचल' और उसके भाभी के मध्य वाद-विवाद होने से 'अचल' घर से निकल जाता है। रास्ते पर चलते हुए उसे इस भीषण गर्मी में भूख और प्यास ने जकड़ लिया फिर उसने विराग के घर की ओर चल दिया पर वहाँ पहुँचते ही देखता है कि 'विराग' अपने घर का सारा सामान बाँध रही है। 'अचल' को देखते ही 'मुरारी' (विराग का बेटा) हाथ जोड़कर खड़ा हो गया और मैले कपड़ों को गठरी में बाँधती हुई विराग, अचल के अभिवादन का प्रत्युत्तर देकर मुस्कराती हुई बोली- "तुम बड़े अच्छे मौके पर आ गए भैया! हम लोग आज इस मकान को छोड़कर कॉटन मिल के पास क्वार्टरों में जा रहे हैं। यहाँ से दूर जरूर है, पर कभी-कभी आया करना। मुरारी! भैया को पता बता दे मकान का।"[50]

मुरारी पता बताने लगा- "वह बशीरत गंज का जो चौराहा है, उससे बाईं तरफ जाने वाली सड़क पर करीब दो सौ कदम चलकर दाहिने तरफ को महावीर जी का मंदिर है। उसके पास ही हम लोगों का अखाड़ा खुदा है। उसके ठीक सामने वाला ही मकान है।"[51]

अचल ने कहा- "हाँ! मैं समझ गया। बहिन मेरे वास्ते कुछ काम बताती हो, तो मैं तैयार हूँ।"[52]

विराग ने कहा- "तुम्हारा हमेशा सहारा रहा है भैया। जब जरूरत होगी तुम्हीं को याद

करू क्त ँ "53

" रू रू !" -" च्छ हूँ "54

ँ ॆ - हु , ॆ -
हु ि ा दु 'दुि ा '
ा ि ा- ' ॆ ि ा
ा िरुद्ध द्र ि ॆ ा ि
ि ों ा , - रु ा ॆ
ों ॆ, ॆ ॆ
ि ँ , ि ँ ॆ ' ' ा
ि , ीं ा ीं ि

िश्र ा ि
ि ि ॆ ' ' ा
ि ि ों ि ' ' िश्वद्यि ॆ
ित्र

प्र िश्र ा ि ओं रू ॆप्र
ि िश्र 'ि ' ॆ िन्नि ओं -
दू ओं िव्यक्त ि ादुि ॆ
ॆ ों ि ि ा ीं ॆ
' ' प्र त्र दू ों त्रि ि
ि प्र ि

' ' . . ि ॆ" दू - "ि
दूों ा ॆ - दूों
ों ॆ - ा ा ों ा
ि ॆ ॆ - ँ ा

'अचल' के पूछने से पता लगा कि मिल मालिकों के द्वारा मजदूरों को मजदूरी इतनी कम दी जाती थी कि वह अपनी जरूरतों को ही पूरा नहीं कर पाते थे। जिनका परिवार बड़ा था, उनका तो यह हाल है कि एक वक्त की भी भरपेट रोटी मिलने में मुश्किल पढ़ती थी। चने चबाकर ही गुजर करते थे। रोटी दाल से जिस दिन भेंट हो जाती थी, सब लोग बड़े आनंद-मग्न होते थे। उनके रहने के क्वार्टर बड़े ही गंदे और तंग थे। मजदूरों के पास एक कोठरी उसी में खाना बनता था जो कुछ अंगड़-खंगड़ होता था, वह भी उसी में रखा जाता था। उसी में परिवार के जितने भी व्यक्ति हों - गीली, सील-खाई जमीन पर अपनी फटी कथरिया विछाकर सोते थे। कई जगह तो अचल को यह हालत देखने को मिली कि उसी कोठरी में एक ओर बैठा मजदूर खाना बना रहा था, दूसरी ओर एक फटा पर्दा डाले उसकी पत्नी जच्चा की अवस्था में पड़ी थी या कोई संक्रामक रोगों से ग्रसित बीमार पड़ा खाँस रहा था।

बर्तन और कपड़ों की कमी देखकर तो अचल का हृदय द्रवित हो गया। जरा अच्छी मजदूरी पाने वाले लोगों में जो मिस्त्री वगैरह थे और जिन्हें दो कोठरियाँ रहने को मिलती थी, उनमें उसने दूसरी प्रकार की दुरवस्था देखी। वे अपने साथी मजदूरों की शिकायतें और चुगलियाँ करते थे। जो कुछ अधिक मजदूरी पा जाते थे; ताड़ी, शराब और जुए में उसको खोते थे।

इस प्रकार मिश्र जी ने 'अचल' के माध्यम से लखनऊ के नगरीय समाज के जन-जीवन का निरीक्षण किया। अचल सैकड़ों मजदूरों के पास जाकर उनके वर्तमान स्थिति के विषय में जानकारी प्राप्त की। उनमें जो उसे कुछ समझदार और अपनी परिस्थिति से असंतुष्ट दिखाई दिए, उन्हें अपने स्थान पर बुलाया। ऐसे मजदूर 'अचल' के बुलाने पर जब उसके पास जाते तो 'अचल' उनकी वास्तविक स्थिति का ज्ञान कराता था। कहता- "देखो! तुम लोग हाथी समान हो गए हो, जो आँख छोटी होने की वजह से अपने शरीर के आकार को नहीं जान पाता। अपनी शक्ति का अंदाजा नहीं लगा पाता। तुम लोगों को यह बात जाननी चाहिए कि संसार में तुम्हारी ही संख्या सबसे अधिक है। आखिर में यह मिल मालिक गिनती में है कितने? बहुत थोड़े। फिर तुम उनका अत्याचार क्यों सहते हो?"[55]

इस प्रकार 'अचल' लखनऊ के अनुसूचित मजदूरों के आत्मविश्वास को जगाने का प्रयास किया। लखनऊ के नगरीय समाज में मजदूरों की जो दुर्दशा है, मिश्र जी ने बखूबी इस उपन्यास में दिखाने का प्रयत्न किया है। अचल ने मजदूरों के आत्मविश्वास को बढ़ाकर उनको अपने

अधिकार के प्रति लड़ने का साहस प्रदान किया। मजदूरों से अचल ने कहा कि- "तुम सब एक हो जाओ। मील मालिकों को ठीक-ठीक बता दो कि तुम कितनी मजदूरी पर काम कर सकोगे। कितनी देर काम कर सकोगे। अपने साथ कैसा बर्ताव चाहोगे। अगर वह तुम्हारी मांग पूरी तरह से मंजूर करें और उसके अनुसार कार्य करें, तो ठीक है। वरना मील में काम करना बंद कर दो। तुम देखोगे कि इस तरह तुम्हारी बात उनकी समझ में जल्दी आवेगी। उनका यह सब ठाट-बाट है तो आखिर मिल ही की बदौलत। अगर तुम रोज भूखों मरने लगोगे, तो आखिर बीस दिन बाद उनके लिए भी तो यही नौबत आवेगी।"[56] इस प्रकार अचल ने एक-एक आना महीना लेकर उन लोगों के रजिस्टर में नाम दर्ज किए और लखनऊ के 'मील वर्कर्स-यूनियन' की शुरुआत की इस तरह एक-एक मजदूर, जो समझदार थे वे अचल के द्वारा बनाए गए संघ के सदस्य बनते गए। नतीजा यह हुआ कि दो ही महीनों में इस संघ के लगभग चार सौ सदस्य हो गए।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि किस प्रकार सभी मिल मालिक मजदूरों का शोषण करते हैं, ये मजदूरों से काम ज्यादा लेकर मजदूरी कम देते हैं। मिश्र जी ने विराग और अचल के माध्यम से लखनऊ के नगरीय समाज में मिलों में मजदूरी करने वाले मजदूरों के आत्मविश्वास को बढ़ाया और उनके अधिकार के प्रति जागरूक किया।

गंगाप्रसाद मिश्र जी ने 'विराग' उपन्यास में लखनऊ समाज के उन मजदूरों के जीवन को उभारा है जो मिल-मालिकों के द्वारा शोषित हैं, उन मजदूरों को कार्य के अनुसार मजदूरी नहीं दी जाती थी, उनका हर प्रकार शोषण किया जाता था। मिश्र जी ने इसी उपन्यास में 'अचल' (जो उपन्यास का प्रमुख पात्र है) को मजदूरों का मसीहा के रूप में प्रस्तुत किया है। उपन्यास का एक पात्र रामलाल ने जब अचल को देखा कि वह मजदूर सभा के काम में पूरी लगन के साथ जुट गया है, तो उसे बड़ी प्रसन्नता हुई और अचल का भरोसा करके मजदूर सभा का काम उसके जिम्में छोड़कर वह स्वयं किसानों के संगठन में लग गया। रामलाल कई दिनों तक देहातों में रहा था- "जब वह लौटकर लखनऊ आया तो मालूम हुआ कि अचल सत्रह तारीख को गिरफ्तार हो गया है और मजदूर लोग विराग के नेतृत्व में तीन रोज से हड़ताल चला रहे हैं।"[57]

अचल ने कई बार रामलाल से विराग की तारीफ की थी पर रामलाल समझा था कि वह कोई अच्छे स्वभाव कि गृहस्थ महिला होगी। इस बात का उसे ख्याल भी न आया था कि वह कोई इतनी समझदार और काम करने वाली स्त्री है। मिश्र जी के इस उपन्यास के प्रमुख पात्र विराग है जिसके नाम पर उपन्यास का नाम रखा है। विराग ही श्रमिक लखनऊ के सामाजिक

जन-जीवन में मजदूरों के साथ खड़ी दिखाई देती है तथा लखनऊ के समाज की स्त्रियों को अपने अधिकार और सम्मान के लिए आवाज उठाने के लिए प्रेरित करती हैं और सभी स्त्रियाँ भी एकजुट होकर विराग का साथ देती है।

अचल के गिरफ्तार हो जाने के बाद मजदूर लोग विराग के नेतृत्व में तीन रोज से हड़ताल चला रहे थे। रामलाल कहता है कि- "आज बहुत दिनों बाद लखनऊ आया तो मालूम हुआ कि वह तो गिरफ्तार हो गए हैं और आपने मजदूरों का भार धारण किया है। मुझे उस समय बड़ी खुशी होती है जब मैं देखता हूँ कि हमारी माताएँ और बहनें हमारी आजादी की लड़ाई में हमसे पीछे नहीं हैं। मैं आपकी सेवा में हर तरह से तैयार हूँ। जो काम आप मुझे बता देंगी उसके लिए मैं जी-तोड़ और प्रयत्न करूँगा।"[58]

शाम को अकसर मजदूर किसी आम जगह में इकट्ठा होते थे। विराग ने उन लोगों को इस बात की बिल्कुल मनाही कर रखी थी। वे इन सभाओं में विनाशकारी व सरकार की निंदा करने वाले भाषण ना दें। वह कहती थी- "हमें अपने मुँह से व्यर्थ बातें नहीं बघारना है। हमें कुछ काम करना है। मजदूरों में इस शासन और पूँजीवाद के खिलाफ विचार पैदा करना है। हम लोग यह सब काम अपने समझदार आदमियों के जरिए बिना हो-हल्ला मचाए हुए भी कर सकते हैं।"[59] शाम की इन सभाओं में मजदूर लोग अकसर विराग की बताई हुई तरकीबों से अपनी हड़ताल को कायम रखने की बातें सोचते थे। पुलिस भी इस प्रकार की मीटिंग या ऐसे भाषणों को न रोक सकती थी। इस तरह विराग की शांतिपूर्वक ठोस काम करने की नीति से परिचालित हड़ताल चलती ही रही।

अचल ने गिरफ्तार होने के बाद अपनी जमानत ही किसी को नहीं करने दी, न मुकदमे की पैरवी ही। जज के सामने उसने कहा- "हमारी सरकार की कार्यविधि का सबसे बुरा पहलू वह है, जिसमें वह गरीब मजदूर और किसानों को कुचल करके पूँजीपतियों की मदद कर रही है। हम लोग इस पूँजीवाद का विरोध कर रहे हैं। अगर इसमें सरकार हमें मुजरिम समझती है तो मजबूरी है।"[60]

मिश्रजी ने जो समस्या आज से दशकों पहले अपने उपन्यास 'विराग' में उठायी थी, वही समस्या आज अपने समाज में घटित हो रही है। वर्तमान समय में भी हमारी सरकार किसानों और मजदूरों को कुचल करके पूँजीपतियों की मदद कर रही है। सरकार सभी सरकारी संस्थाओं

को अरबपतियों को बेच दे रही है। जिसमें किसानों और मजदूरों का शोषण होगा, जिससे फिर से पूँजीवादी व्यवस्था देश के किसानों और मजदूरों पर लागू हो जाएगी।

गंगाप्रसाद मिश्र ने अपने कथा-साहित्य में लखनऊ के सामाजिक जीवन के अंतर्गत नगरीय-समाज की समस्याओं को स्पष्ट रूप से उजागर किया है। इन्होंने नगरीय जीवन-शैली में व्याप्त माया, मोह, स्वार्थ, अंधविश्वास, सांप्रदायिकता तथा विलासी जीवन आदि समस्याओं की यथार्थ अभिव्यक्ति की है। अपनी स्वार्थ-सिद्धि हेतु शहरी-समाज किस प्रकार अनैतिक कार्य करता है। इसे व्यावहारिक रूप में इनके कथा-साहित्य में देखा जा सकता है।

(३.) मध्यवर्गीय समाज :

भारत के 'मध्यवर्ग' को सामाजिक-आर्थिक परिदृश्य के रूप में परिभाषित करना कठिन है। फिर भी अधिकांश अध्ययनों के अनुसार देश में ढाई सौ से तीन सौ मिलियन के बीच लोग देश के मध्यम वर्ग की आबादी से जुड़े हुए हैं। पाश्चात्य विद्वान कार्ल मार्क्स ने समाज में वर्ग संघर्ष की भावना को एक वैज्ञानिक स्वरूप प्रदान किया है। मार्क्स ने विभिन्न वर्गों का नामकरण करते हुए प्रमुख रूप से तीन वर्गों की चर्चा की है। पहले वर्ग को उसने शोषक वर्ग कहा और दूसरे वर्ग को उसने शोषित वर्ग की संज्ञा दी। शोषक और शोषित वर्ग के संघर्ष से ही कालांतर में एक तीसरे वर्ग का उदय हुआ जिसे कार्ल मार्क्स ने 'मध्यमवर्ग' कहा है। मध्यमवर्ग का इतिहास औद्योगिक क्रांति से सीधा जुड़ा है। इस संदर्भ में पाश्चात्य विद्वान एफ.सी.पाम ने लिखा है- "सन् १८१२ तक मध्यवर्ग की संज्ञा किसी समुदाय विशेष की नहीं थी। औद्योगिक विकास तथा नगरीय सभ्यता के बढ़ते स्वरूप ने पूँजीपति और श्रमिक वर्ग के बीच एक नए वर्ग को उत्पन्न किया।[61] इन विचारों से स्पष्ट है कि पूँजीपति और श्रमिक वर्ग के बीच उदित हुआ वर्ग 'मध्यवर्ग' कहलाता है। मध्यवर्ग के संदर्भ में आर.एच. ग्रेटर का मत है- "मध्यवर्ग का नाम ही समाज के स्तर की ओर संकेत करता है। यह वर्ग आज भी मौजूद है और उसकी अपनी विशेषताएँ हैं। यह वर्ग अपनी विशेषताओं अथवा गुणों में इतना मिला-जुला है कि इस वर्ग को अन्य वर्गों के मध्य ही माना जाता है।"[62]

हिंदी साहित्य कोश में मध्यवर्ग के संबंध में लिखा है- "मध्यवर्ग सामंतवादी व्यवस्था में नहीं पाया जाता, क्योंकि उस समय जमीदार तथा किसान का सीधा संबंध था किंतु; पूँजीवादी-व्यवस्था ने समाज को इतना जटिल बना दिया है कि इस मध्यम वर्ग की भी आवश्यकता हुई जो

इस जटिल व्यवस्था के संगठन-सूत्र को न संभाल सके। इस वर्ग में नौकरीपेशा, शिक्षक, क्लर्क और अन्य साधारण लोग आते हैं। मध्यवर्ग विशेषतः बुद्धिप्रधान वर्ग माना गया है और सामाजिक क्रांति के प्रायः समस्त विचारों का सृजन मध्य वर्ग में होता है।"[63] ऑक्सफोर्ड इलस्ट्रेटेड डिक्शनरी में मध्यवर्ग की परिभाषा इस प्रकार दी गई है- "मध्यवर्ग उच्च और निम्न श्रेणी के बीच का वर्ग है जिसमें व्यवसाई, व्यापारिक अथवा क्रय-विक्रय करने वाले लोग हैं।"[64]

इस प्रकार कहा जा सकता है कि मध्यवर्ग की सत्ता मुख्यतः शोषक और शोषित के मध्य है। शोषक और शोषित दोनों अलग-अलग हैं। शोषक वह होता है, जो शोषण करता है और शोषित वह होता है, जिसका शोषण हुआ है या कह सकते हैं कि शोषक और शोषित दो विरोधी शक्तियाँ हैं जिनका आपस में सामाजिक व्यापार समाहित होता है। मध्यवर्ग की स्थिति वस्तुतः दो किनारों के बीच की वह वास्तविक स्थित है, जिसकी प्रवृत्तियाँ इन दो किनारों की ओर मुड़ी हुई प्रतीत होते हुए भी अपनी सामाजिक यथार्थता में स्वतंत्र सत्ता रखती है।

भारतीय समाज के मध्यवर्ग में आत्मनिर्भरता तथा जीवन और परिस्थितियों के साथ संघर्ष करने की अद्भुत क्षमता होती है। आत्मनिर्भरता के साथ ही इसमें नेतृत्व की पर्याप्त क्षमता होती है। यह वर्ग समाज का ऐसा वर्ग होता है जिसकी स्थिति प्रत्येक देश और प्रत्येक समाज में विद्यमान रहते हुए भी उसे अपने परिवेश के अनुरूप विभिन्न रूपों में देखा जा सकता है। इस वर्ग में नौकरीपेशा शिक्षक, क्लर्क तथा सौदागरों, एजेंटों और आधुनिक व्यापारिक फार्मो के मालिक और संचालक सम्मिलित हैं। भारतीय-मध्यवर्ग के अंतर्गत किसी एक वर्ग या जाति के लोग ही नहीं आते अपितु विभिन्न जाति एवं समुदाय के लोग सम्मिलित हैं।

गंगाप्रसाद मिश्र ने अपने कथा-साहित्य में मध्यवर्गीय समाज का चित्रण बखूबी किया है। अपने उपन्यासों- 'विराग', 'संघर्षों के बीच', 'तस्वीरें और साए', 'जहर चाँद का', 'रांग साइड' एवं कहानी संग्रहों- 'आदर्श और यथार्थ', 'नया खून', 'कांटों का ताज' आदि में उन्होंने उल्लेखनीय रूप से मध्यवर्गीय चरित्रों का सृजन किया है तथा इस वर्ग की समस्याओं को प्रस्तुत किया है। 'तस्वीरें और साये' निम्न मध्यवर्ग के रहन-सहन और उसके अभावग्रस्त जीवन पर लिखा गया उपन्यास है। इसमें आर्थिक व्यवस्था का विशेष रूप से चित्रण हुआ है। महंगाई के इस युग में सबसे अधिक त्रस्त इस वर्ग की परेशानियों की झाँकी इस उपन्यास में दिखलाई देती है। अपने पेट काटकर अपने बच्चों को उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए ये लोग विश्वविद्यालय भेजते हैं। वहाँ शिक्षा के नाम पर क्या-क्या होता है, और उस धन का कैसा दुरुपयोग होता है, यह भी इस

उपन्यास का एक अंग है।

उपन्यास का क्षेत्र मुख्यत: 'लखनऊ' है। वहाँ के जन-जीवन, रहन-सहन, बोली इत्यादि के चित्र इसमें अच्छी तरह दिखाई देता है। लखनऊ के जीते-जागते व्यक्तियों का भी इस उपन्यास में जिक्र किया गया है। जहाँ तक विश्वविद्यालय के जीवन अथवा घटनाओं का संबंध है, कथा का क्षेत्र लखनऊ होने के कारण लेखक ने स्थानीय विश्वविद्यालय से संबद्ध करने को विवश हुआ है। अन्यथा जहाँ तक छात्रों की दिनचर्या अथवा उनके अनुशासन का प्रश्न है, यह समस्या न किसी एक विश्वविद्यालय की है, न लेखक का इस ओर इंगित ही है।

लखनऊ की आबोहवा, रहन-सहन, बोलचाल व गोमती किनारे के दुख-दर्द तथा हँसी-खुशी पर यह उपन्यास लिखा गया है। कुछ हद तक 'तस्वीरें और साये' आँचलिक उपन्यासों के श्रेणी में भी अपना स्थान बनाता है।

गंगाप्रसाद मिश्र ने अपने 'तस्वीरें और साये' उपन्यास में लखनऊ के मध्यवर्गीय जीवन के किशोर, प्रकाश, चन्द्रमुखी, प्रभा, आभा, चंद्रभान तथा उनकी पत्नी इसके औपन्यासिक पात्र हैं, जिनके माध्यम से मिश्रजी ने मध्यवर्ग की आर्थिक विषमताओं एवं समस्याओं को उकेरा है।

चंद्रभाल अवस्थी निम्न मध्यवर्ग परिवार की एक इकाई है। वह इलाहाबाद बैंक में क्लर्क है। उनके पिता ऐसी कोई जमीन-जायदाद या नकदी उनके लिए छोड़कर नहीं मरे, जिसके बल पर वह बिना कुछ किए सपरिवार मौज से जीवन बिता सकते। रोज कुँआ खोदना और रोज पानी पीने जैसी ही उनकी पारिवारिक दशा थी। अपने जीवन में उस सुख का उन्होंने कभी अनुभव ही नहीं किया, जिसे पैसे की गर्मी कहते हैं। उनके सिर पर सदा यही चिंता सवार रहती- कब वेतन मिले कि जिसकी दुकान से घी, शक्कर, मसाले, वगैरा खरीदे जाते थे, उसका पैसा अदा हो और वह उसकी निगाह में दिवालिए न साबित हों तथा भविष्य में उधार सौदा मिलने की संभावना भी बनी रहे। बनिए के कर्जे से कभी छुट्टी मिलती तो मकान मालिक का किराया चढ़ जाता। वह अदा हो जाता तो दूधवाले के दाम चढ़ जाते। 'उधव का लेना न माधव देना' वाली स्थिति में अवस्थीजी कभी न आ सके। आभा द्वारा अपने लिए वाटर कलर का डिब्बा और ड्राइंग कॉपी मांगने पर अवस्थी जी ने कहा- "अच्छा बेटी! मँगवा देंगे। दो-तीन रोज में जरूर लाकर दे दूँगा या पैसे दे दूँगा तो प्रकाश भैया से मँगवा लेना।"[65]

दो-तीन रोज बाद आभा अपने पिता अवस्थी जी से कहती है कि आज अगर आप पैसे न

दीजिएगा, तो मैं स्कूल ही न जाऊँगी। चार दिन से दीदी रोज क्लास में खड़ा करती है और न जाने कितनी बातें सुनाती हैं। हमें बड़ी शर्म लगती है। कल दीदी कहने लगी- "ऐसी बेशर्म लड़की तो हमने देखी ही नहीं। चार रोज से खड़ी की जा रही है, पर कुछ असर ही नहीं होता। कल तुम अगर सब सामान लेकर न आई, तो तुमको क्लास से निकाल देंगे और तुम्हारी रिपोर्ट प्रिंसिपल से कर देंगे। साथ की लड़कियाँ भी मुझसे कहती हैं- क्यों रोज-रोज डांट खाती हो? सामान ले क्यों नहीं आती? यहाँ आपसे कहती हूँ तो आप आज-कल करके टाल देते हैं। स्कूल में हमको कितनी मुश्किल पड़ती है, यह आपको क्या मालूम।"[66]

चौथी कक्षा में पढ़ने वाली नन्हीं-सी आभा का इतना बड़ा और प्रभावोत्पादक भाषण सुनकर चंद्रभान अविचलित न रह सके। वास्तव में आभा उनसे कई बार इन चीजों के लिए कह चुकी थी। यह बात वह भूले भी न थे। परंतु इस बार तनख्वाह मिलने पर सब का हिसाब चुकता कर देने और महीने भर अनाज, समान इत्यादि खरीद लेने के बाद उनके पास इतने थोड़े पैसे बाकी बच रहे थे कि उनकी समझ में ही न आता था कि महीना कैसे पार होगा! अभी खर्चे न जाने कितने बाकी पड़े थे।

चंद्रभाल अवस्थी का परिवार मध्यवर्गीय है। उनकी आर्थिक स्थिति अत्यंत दयनीय थी। चंद्रभान बी.ए. में पढ़ रहे थे कि उनके पिता का देहांत हो गया। वही दशा थी- "जिसे लोग कहते हैं घर में भूँजी भाँग न होना।"[67] बहिन विवाह के लायक हो गई थी। उसी के लिए वर खोजते-खोजते दमे के मरीज पिताजी चल बसे थे। चंद्रभान को तुरंत ही पढ़ाई छोड़नी पड़ी। तीन प्राणियों के पेट भरने का भी प्रश्न था। नौकरी ढूँढने लगे। जैसे-तैसे एक स्कूल में जगह मिली और कुछ दिनों के लिए दाल-रोटी की चिंता से मुक्ति हुई। घर की गाड़ी जैसे-तैसे खिंचने लगी। परंतु स्कूल के मैनेजर और चंद्रभान में कभी न पटी। वह तनख्वाह के पैंतालीस रुपए पर दस्तखत करवाता और देता उन्हें केवल तीस रुपए। उमीद यह भी करता कि अध्यापक उसके घर आकर दरबारगीरी करें, ठकुरसुहाती कहें, उसकी तारीफों के पुल बांधे। चन्द्रभान का खून अभी गर्म था। उनकी आत्मा का हनन न हुआ था। उन्हें उस गन्दे वातावरण में कार्य करना, देखते हुए मक्खी निगलने-सा प्रतीत होता था। बिना किसी से जिक्र किए हुए वे चुपचाप नौकरी ढूंढते रहे। पिताजी के एक मित्र की सहायता से बैंक की नौकरी मिली और उस स्कूल से छुट्टी!

अब चंद्रभाल अवस्थी की माँ को उनके विवाह की चिंता होने लगी थी। वह चाहती थीं कि

इस उत्तरदायित्व से छुट्टी मिले तो शांति की साँसें लें। स्वास्थ्य उनका कुछ ठीक न रहता था। न जाने कब चल बसें, इसलिए अक्सर चंद्रभान से विवाह के लिए सहमति दे देने का आग्रह करती रहती। चंद्रभाल अभी इस बंधन में न बँधना चाहते थे। पर माँ के आँसू भरे आग्रह और शिथिल होते हुए शरीर की ओर वह अधिक दिन उदासीन न रह सकें। उन्होंने अपनी सहमति दे दी और माँ ने शीघ्र ही उनका विवाह रच दिया।

चंद्रभाल की पत्नी अन्नपूर्णा एक सद्-गृहस्थ परिवार की सरल और सुशील पुत्री थी। उनकी शिक्षा थोड़े-बहुत हिंदी ज्ञान और रामायण के पढ़ने तक सीमित थी। फलस्वरुप दुनिया की हवा उन्हें न लग पाई थी। गौर वर्ण, औसद कद, सुंदर चेहरा, सीधा-सादा स्वभाव: ये ही उसकी विशेषताएँ थी। पति को परमेश्वर के रूप में देखती और उनकी हर प्रकार की ज्यादती सहन करने को तैयार थी।

माँ अब पूर्ण संतुष्ट थी। अपने बेटे की गृहस्थी उन्होंने जमा दी थी और उसके लिए ऐसी बहू ला दी थी, जो उसकी जीवन-सहचरी के कर्तव्य का पूर्ण रुप से पालन कर सकें। अब यदि उन्हें कोई अभिलाषा थी, तो यह कि पोते के जन्म के रूप में अपनी वंश-बेलि को फूलते-फलते देख लें। अन्नपूर्णा इस दृष्टि से भी कामधेनु ही सिद्ध हुईं। उसने जो माँ बनना प्रारंभ किया तो दो-दो साल के बाद संतान की भेंट देकर वह अपने परिवार की वृद्धि करने लगीं। माँ कुछ दिन इस सुख को देखने लिए जीवित रहीं। फिर उन्होंने इस संसार से छुट्टी ले ली।

माँ की मृत्यु के पश्चात् परिवार के कर्ता-धर्ता चंद्रभाल हो गए। सारी जिम्मेदारी उनके सिर आ गई। अब तक वह तनख्वाह लाकर माँ के हाथ में रख भर देते थे। उसके बाद उतने ही रूपयों में सारा खर्च चलाने का काम माँ का था। बुढ़िया न जाने कैसे खर्च चलाती थी! वह युक्ति चंद्रभाल और अन्नपूर्णा न जान पाए।

गंगाप्रसाद मिश्र ने अपने 'तस्वीरें और साये' उपन्यास में लेखन पर भी प्रकाश डाला है। उपन्यास का मुख्य पात्र चंद्रपाल अवस्थी हैं, जिनकी पुत्री चंद्रमुखी है। जिसको प्यार से लोग 'चंद्रा' कहकर बुलाते हैं। चंद्रा इंटरमीडिएट में पढ़ रही थी। वह हिंदी के सभी महत्वपूर्ण कहानी लेखकों और उपन्यासकारों की मुख्य रचनाएँ पढ़ चुकी थी। चंद्रा में लिखने का शौक बचपन से ही था। छठी कक्षा में उसके पाठ्यक्रम में अरेबियन-नाइट्स की प्रसिद्ध कहानी 'अलादीन और उसका आश्चर्यजनक चिराग' थी। ग्रीष्मावकाश में उस बत्तीस-छत्तीस पृष्ठ की पुस्तिका का अपने

नन्हें-नन्हें हाथों से उसने हिंदी रूपांतरण किया था। चंद्रमुखी बराबर कुछ-न-कुछ लिखती रहती। उसने अपनी माँ से सुनी हुई एक लोककथा लिखकर विद्यालय की मैगजीन में प्रकाशित होने के लिए दी। वह मैगजीन में प्रकाशित हो गई।

चन्द्रा काफी कहानियाँ लिखती रही, तो उनके प्रकाशन की समस्या भी धीरे-धीरे बढ़ने लगी। लखनऊ में केवल दो-तीन पत्रिकाएँ ऐसी थीं, जिनमें कहानियाँ प्रकाशित होती थीं। बाहर कहानियाँ भेजने के लिए डाक-व्यय की आवश्यकता पड़ती थी जो चंद्रा के लिए सुलभ नहीं था।

चंद्रभाल अवस्थी के एक पुराने सहपाठी वाजपेयी जी हिंदी के अच्छे साहित्यकारों में थे। एक दिन चंद्रभान उन्हें अपने घर बुला लाए क्योंकि; उन्हें यह मालूम था कि चंद्रा साहित्यकारों से मिलकर कितना प्रसन्न होती है। बाजपेयीजी चंद्रा की दो-तीन कहानियाँ बड़े ध्यान पूर्वक सुनी। उनके संबंध में विस्तार पूर्वक अपनी सम्मति दी। गुण और दोष, दोनों का ही इस भाँति विवेचन किया कि चंद्रा निराश न हो, उसका उत्साह बढ़े। अंत में उन्होंने कहा- "बेटी, इस संबंध में एक बात बता देना आवश्यक समझता हूँ। साहित्य की सेवा बहुत बड़ी साधना है। मनुष्य को इसके लिए अपना तन, मन, धन सभी कुछ अर्पण करना पड़ता है।"[68]

वाजपेयी जी साहित्यकार के जीवन के विषय में बतलाया- "दुनिया जब आराम करती है, खर्राटे भरती है, गप्पे हाँकती है; सिनेमा नाटक देखती है; साहित्य-सेवी लालटेन के धीमे प्रकाश में तब अपना कलेजा जताता हुआ पूरी-पूरी रात अपने विचार जगत को देने के लिए शहीद होता रहता है, तिल-तिल घुल-घुलकर अपनी बहुत सारी कामनाओं को मारता रहता है। कौन है, जो ऐसे साहित्य का मूल्य दे सके, जिसकी सृजन-पीड़ा, प्रसव-पीड़ा से कम कष्टदायक नहीं है।"[69] वाजपेयी जी फिर बतलाते हैं- "परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि साहित्यकार को तो 'संतोषं परमं सुखम्' का उपदेश दिया जाय, उसे भूखे-नंगे तड़पने दिया जाए, उसके बच्चों को बूंद-बूंद भर दूध और दवा के बिना मरने दिया जाए और लोग उसकी कृतियों की बदौलत दूध के कुल्ले करें।मोटर के नीचे कदम न रखें। कोठियों और बंगलों में मौज करें। मै ऐसे साहित्यकारों को जानता हूँ बेटी, जिन्होंने अपना सर्वस्व होम करके साहित्य की सेवा की है।"[70]

इस उपन्यास में लेखक पंडित गंगाप्रसाद मिश्र ने साहित्यकार के जीवन की सच्चाई को दिखलाया है कि साहित्यकार किन विषम परिस्थितियों में साहित्य की रचना करता है। यह बातें प्रकाशकों को भी पता होगी। परन्तु प्रकाशकों को तो केवल पैसों से मतलब होता है। वे अपने

स्वार्थ के आगे किसी की परिस्थिति को नहीं समझते हैं।

पंडित गंगाप्रसाद मिश्र 'तस्वीरें और साये' उपन्यास में एक नहीं बल्कि; दो-दो कथानकों को लेकर चले हैं। अतः उपन्यास में मध्यवर्गीय समाज के दो भिन्न पक्ष प्रकाश में आते हैं। उपन्यास में पहली कथा चन्द्रभाल अवस्थी की और दूसरी बलदेव वंशी की है। पहली कथा के प्रमुख चन्द्रभाल का जीवन एक संस्कारी मध्यवर्ग को प्रस्तुत करता है, जिसके मन-मस्तिष्क में उच्चाकांक्षाएँ और वांछनीय जीवन दृष्टि के सपने पलते रहते हैं किन्तु; सुरसा की भांति बढ़ती हुई मँहगाई, जाति-बिरादरी की सामाजिक रूढ़ियाँ, पारिवारिक समस्याएँ, बच्चों की शिक्षा-व्यवस्था आदि के कारण उनका जीवन करुण-कहानी बन जाता है।

'तस्वीरें और साये' उपन्यास की दूसरी कथा यात्रा में लखनऊ नगर के परिवेश की अनेकानेक ऐसी तस्वीरें अंकित हुई है, जो आकर्षक होने के साथ-साथ लखनऊ के व्यक्तित्व को भी उजागर करती हैं। आंचलिक उपन्यासों में आंचलिक परिवेश तथा उसके व्यक्तित्व को साकार करने की जो खूबी रहा करती है, वह इस उपन्यास में देखने को मिलती है किन्तु; इसके बावजूद कथानक की मूल चेतना सामाजिक-पारिवारिक जीवन की सूक्ष्म व्याख्या को लिए हुए है। अतः बदलते हुए नए जीवन-मूल्यों की ओर उन्मुख और सतत संघर्षशील मध्यवर्ग के अंतरंग के विश्लेषण को इस कृति में आंचलिक तत्त्वो का समन्वय या समावेश ही कहा जाना चाहिए क्योंकि; यह प्रकारांतर से आधुनिक भारतीय जीवन का गम्भीर और सशक्त अध्ययन प्रस्तुत करने में सर्वथा समर्थ है। इसमें जिस जीवन रूप की प्रधानता और व्याख्या मिलती है, वह लखनऊ का ही नहीं, समस्त भारत वर्ष के मध्यवर्गीय समाज का भी जीवन है। यह अवश्य है कि इसमें लखनऊ के चंचल-चपल परिवेश, नगर-विशेष के अपने क्रीड़ा-विनोद, आबोहवा, रहन-सहन और बोलचाल तो कहीं शिष्टाचार के निजी लहज़े आदि की अभिव्यक्ति, जीवन का आद्यन्त प्रवाह और उसकी ऊष्मा, व्यापक क्षेत्र में समस्या हुई है।

गंगाप्रसाद मिश्र के 'तस्वीरें और साये' उपन्यास में दूसरी कथा का कथानक बलदेव प्रसाद के इर्द-गिर्द घूमता है। बलदेव प्रसाद शहरी जीवन से संबंध रखता है, जो लखनऊ के अमीनाबाद पार्क से लेकर लखनऊ के विश्वविद्यालय के जीवन से संबंधित है। अमीनाबाद पार्क के सामने वाली गली में जो मकान थे, वह एक दूसरे से इस तरह सटे हुए बने थे कि यह संभव नहीं था कि उनके निवासी एक दूसरे से संपर्क बचा सकें। हर मोहल्ले में कुछ खास हस्तियां होती हैं, जिनके

कारण वह मोहल्ला दूसरे मोहल्लों से भिन्न होता है। ऐसे लोग, जो बहुत सीधे गो-छाप किस्म के होते हैं, जो 'न ऊधव के लेने में होते हैं ना माधव को देने में' और वे कब दफ्तर या दुकान आते-जाते हैं, मालूम ही नहीं पड़ता। वे मोहल्ले को कोई व्यक्तित्व नहीं प्रदान करते। उनका अस्तित्व मोहल्ले के लिए कोई महत्व नहीं रखता। मोहल्ले में बस्ती तो उन लोगों से होती है, जिनके रहने का ढंग मोहल्ले में चहल-पहल रखता है। मोहल्ला जिनसे गुलजार रहता है। कभी वह किसी पड़ोसी के साथ तो उस्ताद हैं, गोया उन्हें अब पहुँचाकर ही दम लेंगे।

लाला बलदेव प्रसाद मोहल्ले की ऐसी ही हस्तियों में से थे। उनकी दो विशेषताएँ थी। चर्च मिशन स्कूल में कक्षा ५ की सीढ़ी पार न कर पाए थे। परंतु कढ़े हुए वो इतना थे कि बड़े-बड़े वकीलों के दादा साबित होते थे। दूसरे; उनके जीवन का सिद्धांत था- बिना मेहनत किए हुए खाना। वह सही मायने में बुद्धिजीवी थे। परिश्रम दूसरे करते, लाभ वह उठाते। फसल दूसरा बोता, काटते बलदेव प्रसाद। अपने स्कूली जीवन में वह पढ़ना लिखना तो बस यों ही सीख पाए थे। एक शायर-मौलवी के व्यक्तित्व से वह बहुत प्रभावित हो गए थे और उन्हीं की देखा-देखी अर्ज किया करते थे। अपने बचपन के साथियों में बहुत पॉपुलर होने के कारण उन्होंने अपना तकल्लुफ रखा था कातिल यों तो लोगों को विश्वास है कि कवि और शायर जन्म से ही होते हैं। परंतु दुनिया को सुनाने लायक बात कहने के लिए कुछ अध्ययन करने की आवश्यकता होती है। जोड़ गाँठकर जो मुँह पर आ जाए, वह कह देना और बात है। लखनऊ के निठल्ले अथवा निखट्टू लोग मलूक दास के 'अजगर करे न चाकरी' वाले दोहे के स्थान पर लाला बलदेव प्रसाद कातिल का यह शेर पढ़ा करते थे-

"क्या करें मेहनत जो अल्लाह मुफ्त देता है।

जाइए हम हैं किसी के बाप के नौकर नहीं।।"[71]

बलदेव प्रसाद के माता-पिता बचपन में ही गुजर गए थे। विवाहित बड़ी बहन लड़ैतो इन्हें और छोटी बहन को, माँ की मृत्यु के पश्चात अपनी ससुराल ले गई। इन्हें आगे बढ़ाने के बहनोई के सब प्रयत्न असफल हुए। उनका हुक्का ताजा करके चिलम सुलगा कर, ज्यादा से ज्यादा उनके लिए बाजार से पान-बीड़ी लाकर उन्हें खुश करने की कोशिश करते। बहनोई जब तक रहे, रोटी चलती रही। दुर्भाग्य से बहनोई का स्वर्गवास हो गया। मोहल्ले वालों ने समझा, अब तो बलदेव कुछ-न-कुछ करेगा ही। परन्तु बलदेव का जीवन-दर्शन वही था, जो उनके शेर में प्रकट

हुआ था। वह एक वक्त रूखी-सूखी रोटी खाकर ठंडा पानी पीने को तैयार थे, परन्तु अपने शरीर को कष्ट देना उन्हें गवारा नहीं था। विधवा बहन ने मारा-डांटा, घर से निकाल देने की धमकी दी, एकाध बार खाना भी नहीं दिया। पर लाला बलदेव अपने सिद्धांत के पक्के थे। वह टस से मस नहीं हुए। विवश होकर लड़ैतो ने एक-एक करके अपने जेवर बेंचे और अपना तथा भाई-बहन का पेट पाला। लड़ैतो ने कई बार अपने भाई को बहुत सहूलियत से समझाया- "बेटा कुछ उद्यम कर। आखिर बिना हाथ-पैर हिलाये पूरी जिंदगी कैसे पार होगी? जब तक मैं जिंदा रहूँगी, तुझे अपने हाड़ भी बेचकर खिलाऊँगी। पर मेरे मर जाने पर क्या होगा? कौन तुझे बैठाकर खिलाएगा? छोटी बहन शांति ना जाने कब से ब्याह के लायक हो गई है। दिन पर दिन वह जवान होती जा रही है। आखिर तू कैसा मर्द है जो तुझे गैरत ही नहीं आती?"[72] बलदेव ने सारा भाषण बहुत शांति पूर्वक सुना क्योंकि बहन भोजन बना रही थी और उसे भूख लगी थी, अन्यथा वह ना जाने कब का उठ कर चला गया होता अक्सर यही होता था कि बलदेव घर में बैठा होता। बहिन अपना उपदेश शुरू करती तो वह उठकर अपने मुल्क नवाबों की संगत में जा बैठता, जिनका लखनऊ में बाहुल्य था।

लड़ैतो की सबसे बड़ी चिंता शांति थी। शांति की नित्य-प्रति निखरती जवानी और बराबर बढ़ती तंदुरुस्ती उसे अपनी छाती पर रखी सिल की भांति लगती। वह रिश्तेदारों में गई। मिलने-जुलने वालों में गई और खुशामद-बरामद करके एक जगह शांति का रिश्ता पक्का कर लिया। उसकी बिरादरी में दहेज की प्रथा न थी। लोग केवल सुंदर लड़की चाहते थे। सुंदर लड़की पाने पर बड़े लोग भी गरीब के घर विवाह कर लेते थे। शांति स्वस्थ और सुंदर थी। इसलिए उसका संबंध लखीमपुर के एक ऐसे खाते-पीते घर में तय हो गया था, जिसे साधारणतया किसी प्रकार की कमी न थी।

शांति का विवाह तय हो गया, पर लड़ैतो के लिए विवाह की तैयारी करना बहुत बड़ा पहाड़ ढकेलना था। जहाँ से भी सहायता की उम्मीद थी, वह गई और अपनी विवशता का वर्णन किया। लड़की का ब्याह समझकर जिससे जो कुछ भी हो सका, उसकी मदद की। जिनको ईश्वर ने कुछ सामर्थ्य दे रखी थी, उन्होंने कोई छोटा-मोटा गहना दिया किसी ने दो-एक धोती-साड़ी दी। और किसी ने तो दो-चार पसेरी अनाज ही दे दिया। मतलब यह है कि सात-पाँच की लाठी और एक जने का बोझ हो गया। लड़ैतों के पास ऐसा सामान जुट गया कि वह गरीबी में भी शांति की शादी कर सके। तुरंत दान महाकल्याण। उसने पत्र लिखकर विवाह की तिथि निश्चित कर ली।

अपने कुनबे की दो-एक संपन्न स्त्रियों को विवाह की तैयारी के लिए कुछ पहले से ही बुला लिया। एक रात सब एकत्रित किए हुए सारे गहने रखे हुए लड़ैतो अपनी ताई से काफी देर तक यह तय करती रही कि किस काम में कौन-सा गहना देगी। काफी रात बीत जाने के बाद दोनों सोईं। सवेरे लड़ैतो की आँखें खुली तो उसने अपना गहनों वाला संदूक अपने स्थान से गायब पाया। कमरे का दरवाजा खुला हुआ था। वह भागी हुई कमरे के बाहर गई तो देखा गलियारे में उसका संदूक पड़ा हुआ था। कपड़े बिखरे हुए पड़े थे और गहने सब गायब थे। लड़ैतो ने अपना कपाल ठोक लिया- "हाय यह किस हत्यारे ने जिंदा-गौ का सिर काट लिया! किसने गरीब की परसी-थाली उसके सामने से हटा दी। किसने कुमारी कन्या को उसके सुहाग से वंचित कर दिया। हाय, उस हत्यारे का नाश हो। उसे जिंदगी में सुख-चैन नसीब ना हो।"[73]

लड़ैतो का रोना और चीखें सुनकर मोहल्ले वाले इकट्ठे हो गए। वृद्धाएँ उसके स्वर में स्वर मिलाकर उस पापी को कोसने लगीं, जिसने ऐसा जघन्य कुकृत्य किया था। मोहल्ले वालों में से किसी ने प्रश्न किया- "बलदेव नहीं दिखाई देता! क्या उसकी नींद अभी तक नहीं खुल पाई?"[74]

शांति ने उत्तर दिया- "भैया तो अपनी खटिया पर नहीं है।"[75]

लड़ैतो की जबान बंद हो गई। तो क्या यह बलदेव की ही करतूत है?

ऐसा नीच निकला। अपनी सगी कुँवारी बहन का इतना बड़ा अहित उसने किया। एक भाई होता है, जो अपनी छोटी बहन के लिए अपने प्राणों की बाजी लगा देता है। इसने मदद करना तो दूर, रहा उसका किया-धरा सब मेट दिया। बहिन की सुहाग की थाली में आग लगा दी। पुलिस-थाने की जो बात चल पड़ी थी, उसे उसने दबा दिया और छाती पर पत्थर रख लिया।

लखनऊ की हवा, गोमती का पानी और अमीनाबाद के उन शरीफजादों की सोहबत, जिन्हें लखनऊ के पाजीपन का इत्र कहा जा सकता था - लाला बलदेव प्रसाद कातिल के व्यक्तित्व को सब मिलकर नित्य प्रति निखारते ही जा रहे थे। लखनऊ अपने जिस चक्र और झाँसेबाजी के लिए मशहूर रहा है, उसका पूर्ण विकास बलदेव में दिखलाई देता बिना मेहनत किए। केवल अपनी चालबाज़ी से कैसे दूसरे का पैसा अपनी जेब में आ जाए, इसी में तो वह बराबर रहता। उसकी बुद्धि इस मामले में इतना काम देती थी और वह इतनी फुर्ती से उस वक्त काम दिखलाता था कि शिकार जब तक पूरी तौर से उसके चक्कर में न फँस जाता, उसकी आँख न खुलती।

गंगाप्रसाद मिश्र का 'तस्वीरें और साये' मध्यवर्गीय जीवन पर आधारित सशक्त उपन्यास है। इसके बारे में वे स्वयं लिखते है- "निम्न मध्यवर्ग के रहन-सहन और उसके अभावग्रस्त जीवन का इस उपन्यास में चित्रण करने का प्रयास किया गया है। मंहगाई के इस युग में सबसे अधिक त्रस्त इस वर्ग की परेशानियों की एक झाँकी आप इसमें पाएंगे। अपने पेट काटकर अपने बच्चों को उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए ये लोग विश्वविद्यालय भेजते हैं और उस धन का कैसा सदुपयोग होता है, यह भी इस उपन्यास का एक अंग है।"[76]

'तस्वीरें और साये' उपन्यास की पृष्ठिभूमि लखनऊ है। 'गुलाबी-जाड़ा' लखनऊ का एक मुहावरा है और उसका सही नक्शा लखनऊ वालों के दिमाग में ही होता हैं। दशहरे के बाद जब शरद ऋतु अपनी पूरी जवानी पर आती है, वातावरण में एक हल्की-सी खुनकी होती है। हवा में शीतलता आ जाती है। बरसात की उमस से मुक्ति मिल जाती है। आसमान में कालिमा के स्थान पर स्वच्छ नीलिमा, आँखों को शीतलता प्रदान करती है। चाँदनी ऐसी गहरी छिटकती है, जैसे मोहब्बत का रंग जग गया हो। धूप की तल्खी कम हो जाती है और वह हल्के-हल्के बदन सहलाने लगती है। कुल्फी में वह मजा नहीं आता। माल-मक्खन दूध से उठने लगता है। विस्तर में लेटे-लेटे हल्के गरम चादरों का आनन्द लेते हुए और अब खोंचे वालों की आवाजों पर मलाई निमष-माल-मक्खन। क्या मक्खन है की आवाजें भारी पड़ने लगती है। गंडेरियां और गोला-गरी बेचने वालों के सामने मूँगफली के ढेर दिखलाई देने लगाते हैं। काफी रात तक सुनाई देता रहता है- चीन-बादाम है। बालू में भूनी है। गर्म न हो तो पैसा न देना। दाम तो मसाले के हैं बाबूजी! चीनी-बादाम मुफ्त में हैं। तुरई लौकी से जान छूटती है। नया आलू। मीठी विलायती मटर, गोभी, करम-कल्ला बाजार में आकर खाने की बदमजगी दूर कर देते हैं। हलवाइयों की दुकान पर थालों में सोहन हलुआ सजने लगता है। तब लखनऊ के लोग स्वप्निल आँखों से कहते है- "गुलाबी जाड़ा आ गया भैया ! लखनऊ का सबसे सुहावना, सबसे सुनहरा मौसम।"[77]

लखनऊ के जागरूक आदमी यह जानते हैं कि अगर इस शहर में तंदरुस्ती ठीक रखनी हो, तो सबेरे थोड़ा टहल लिया जाए। बरसात के मौसम में इस काम में बाधा पड़ती है तो पेट गुड़गुड़ाने लगता है। बरसात का जोर खत्म होते ही टहलने के नियम का अबाध रूप से पालन होने लगता है। मुँह-अंधेरे ही टहलने वाले एक-दूसरे के दरवाजे की कुण्डी खटखटाते, आवाजें देते सुनाई देते हैं। पौ फटते ही छड़ी हिलाते अथवा टेक देकर चलते हुए टहलने वालों के झुण्ड सड़क पर दिखलाई देते हैं। एक-दूसरे को दूर से ही पहचान कर हरिओम, बमशंकर इत्यादि के

नारे ध्यान आकर्षित करने के लिए लगाए जाते हैं। मुलाकात होने पर दुआ-सलाम के बाद, लखनऊ का सरस मज़ाक, हल्की छींटाकशी या छींटेबाज़ी और महीन चोटों के बाद देर तक गुज़ाने वाले कहकहे वातावरण को हल्का कर देते हैं। विक्टोरिया पार्क, रिवर बैंक रोड, बेली गारद और सिकन्दर बाद की तरफ जाते हुए अमीनाबाद-वासियों के झुण्ड दिखलाई देते हैं।

'तस्वीरें और साये' उपन्यास में लखनऊ के सामाजिक जन-जीवन, रहन-सहन, खान-पान और आबो-हवा को दर्शाते हुए मिश्रजी ने मध्यवर्गीय समाज के उत्तरदायी तत्त्वों का अंतरंग उद्घाटन बड़ी बारीकी से किया है। मध्यवर्गीय समाज के परिप्रेक्ष्य में 'तस्वीरें और साये' उपन्यास की पात्र अन्नपूर्णा एवं लड़ैतो के माध्यम से इस वर्ग की सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक समस्याओं को प्रस्तुत किया गया है। अन्नपूर्णा एवं लड़ैतो प्रगतिशील चेतना का प्रतीक बनकर पाठकों के सामने प्रस्तुत होती है। ये दोनों पात्र निम्न मध्यवर्ग परिवार से सम्बन्ध रखती है। प्रारम्भ से ही दोनों ने आर्थिक घुटन और सामाजिक लाचारी को देखा है। घर के विषाक्त वातावरण और बाहर की स्वार्थपरता ने मानव जाति के प्रति उनके विश्वास को हिलाकर रख दिया है। मध्यवर्ग की अधिकांश स्त्रियाँ आर्थिक-विषमता में पिसकर कुंठित जीवन व्यतीत करने को विवश होती है।

गंगाप्रसाद मिश्र का 'विराग' उपन्यास भी मध्यवर्गीय जीवन का कथानक प्रस्तुत करता है। इसमें मजदूरों और किसानों को संगठित करने पर बल दिया गया है ताकि गरीबी और शोषण के खिलाफ तथा पूँजीवाद के पराभव के लिए सामूहिक प्रयास किया जा सके। उपन्यास के कथावृत्त के अंदर मिलमालिकों के अहंकार मर्दन को भी दिखाया गया है तथा मजदूरों की हड़ताल की सफलता प्रदर्शित करते हुए मजदूरों और किसानों का एक झण्डे के नीचे आह्वान भी किया गया है। मजदूर-किसान एकता और संघर्ष का फलक लखनऊ से असम तक फैला हुआ है। उपन्यास का प्रारम्भ लेखक ने 'विराग' नामक स्त्री पात्र से किया है, जिसका चरित्रांकन एक विपन्न विधवा से शुरू होता है और कम्युनिस्ट नेता के रूप में समाप्त होता है।

'विराग' उपन्यास में यदि मध्यवर्ग के परिवार की टूटन की कथा का वर्णन है तो उसमें घुटन और स्वार्थवृत्ति के कारण व्यक्ति के टूटने का सिलसिला भी जारी दीखता है। यहाँ पारिवारिक मतभेद के भी अनेक प्रसंग है। स्वातंत्र्योत्तर भारत की राजनीतिक विषमताओं का मध्यवर्गीय परिवार पर जो प्रभाव पड़ता है, वह भी इस उपन्यास में है। उपन्यास का एक पात्र 'अचल' भी है, जो प्रगतिशील सोच के चलते विषम परिस्थितियों से विमुख नहीं होता। असामाजिक तत्वों का

डटकर सामना करता है। मिल-मजदूरों का नेतृत्व करते हुए अचल ने कहा- "इस दयनीय अवस्था को सुधारने का अगर कोई तरीका है तो वह यही है कि तुम लोग इन मिल-मालिकों का किसी प्रकार का सहयोग न करो। मिलों में काम न करना ही इनसे असहयोग करना है। जब तुम मिलों में काम न करोगे तो इनको भी रोटियों के लाले पड़ जायेंगे और तब इनकी टोपियाँ तुम्हारे पैरों पर गिरेंगी। तब ये तुम्हारी शर्तों को मानेंगे और तुमसे मिल में काम करने की खुशामद करेंगे। तभी तुम्हारी जीत होगी। तब तुम्हें अपने इस संगठन का फल मिलेगा।"[78]

'विराग' उपन्यास मध्यवर्ग की समस्याओं को लेकर चला है। उसका उद्देश्य निर्मल है। विराग और अचल ने अपने को खोकर पा लिया किन्तु; जब आखिरी लड़ाई शुरू होगी, उसमे मजदूर वर्ग नेता होगा, विराग और अचल सिपाही।

समय के चलते समाज का मध्यवर्ग भी शिक्षित हुआ। शिक्षा से इस वर्ग में सामाजिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक चेतना उत्पन्न हुई है। सफल दाम्पत्य जीवन के लिए पति पत्नी दोनों के विचारों में समानता होना आवश्यक है। इसके लिए यदि स्वेच्छा से विवाह किया जाए तो सफलतापूर्वक जीवन निर्वाह किया जा सकता है। विराग अपने विवाह की असफलता का कारण चाचा द्वारा तय की गई शादी को मानती है। विराग के चाचा सभी लोगों के समान संपत्ति के गुण को सर्वश्रेष्ठ गुण समझते है। इस प्रकार धन की कसौटी पर कसकर विराग के लिए उसके चाचा ने काशी में एक वर खोज निकाला। लड़के के बारे में सुना गया की चरित्र कुछ ठीक नहीं है। पर विराग के चाचा ने उसे रईसों का एक आवश्यक गुण बताकर टाल दिया।

अपनी ससुराल काशी में आकर विराग ने पति को ठीक वैसा ही पाया जैसा उसके बारे में सुन रखा था। पिता की संपत्ति को वह दोनों हाथों खूब उड़ाता था। अनगिनत लुच्चे और तमाम वेश्याएँ उसकी बदौलत गुलछर्रे उड़ाते थे। भाई-भाभियों के समझाने पर हिस्सा बाँटकर देने की धमकी देता था। महीनों विराग से उससे देखा-देखी न होती थी। नतीजा इसका वही हुआ, जिसके लिए सबको डर था। वह एक बड़े ही विषम-रोग से ग्रसित होकर चल बसा और विराग सोलह वर्ष की उम्र में एक बच्चा गोंद में लिए हुए विधवा हो गई।

विधवा हो जाने के बाद आने वाले संकटों ने विराग की भावना पर बड़ा जबरदस्त प्रभाव डाला था। 'अकारण ही उसके जीवन को कंटकाकीर्ण कर देने वाला यदि सृष्टि में कोई ईश्वर है, तो उसके ऊपर से उसका विश्वास धीरे-धीरे उठा जा रहा था। वह बैठी मन में अपने बचपन और

किशोराकाल के बारे में सोचा करती- 'माता के गर्भधारणी होने के पश्चात् पिता का स्वर्गवास हो गया। उसे चार वर्ष का छोड़कर माता चल बसी। यह मेरे बचपन के किस बात का फल हो सकता था। अपने लड़कपन में कभी चाचा-चाची की मर्जी के खिलाफ काम नहीं किया। चचेरे भाइयों एवं बहिनों से कभी ईर्ष्या न की। भूलकर कभी कुचाल न चली। यौवन का आगमन होते ही ब्याह हुआ। इतना दुश्चरित्र पति मैंने अपनी इस सचरित्रता के पुरस्कार-स्वरूप पाया। फिर भी मैंने कभी पर-पुरुष की ओर दृष्टिपात न किया। सदा उन्हें ही ईश्वर का स्वरूप समझा। लेकिन ईश्वर ने मुझे उससे भी वंचित कर दिया। अब यदि उनकी याद में मैं सुख-पूर्वक अपना जीवन व्यतीत करना चाहती हूँ तो परमेश्वर इसमें भी बाधा देता है। मैं कैसे समझूँ कि ईश्वर न्यायशील है? मेरे जीवन का कोई भी कार्य उसके दयासागर दीनबंधु और भक्तवत्सल होने का प्रमाण नहीं है। मुझे तो उसने सच्चे मार्ग पर चलने के बदले में दुःख ही दिया है। फिर मैं किसलिए उसकी तारीफों के पुल बाँधू? क्यों कर उसे करुणा-सिंधु विशेषण से विभूषित करूँ? मेरे लिए तो वह पाषाण-हृदय, निष्ठुर और अन्यायी ही है। जिन्होंने उससे ऐश करने के लिए लाखों की दौलत पाई है, वे उसको रिद्धि-सिद्धि-दायक कहें। अनगिनत पाप-कर्म करने पर, नित्य नए छल-छंद रचने पर, गरीबों और असहायों को व्यर्थ सताने पर, जिनकी दौलत की वृद्धि होती जाती है, वे उसके गणिका और अजामिल को तारने की कथाओं को सच्ची घटनाएँ समझें। पर जिनको होम करने के बदले में हाथ जलने का प्रसाद मिलता है, वे कैसे उसके गुण गावें? उनका ईश्वर की प्रशंसा करना आडंबर और लोक-दिखावा से खाली नहीं हो सकता।'[79]

इस उपन्यास में मध्यवर्ग से संबंधित प्रमुख पात्र विराग, अचल और रामपाल हैं, जिनके माध्यम से मध्यवर्ग की समस्याओं का यथोचित वर्णन हुआ है।

गंगाप्रसाद मिश्र के इस उपन्यास में मध्यवर्ग की नारी-विषयक समस्याओं में स्त्री-पुरुष के समानाधिकार की समस्या का यथोचित वर्णन हुआ है, जिसमें शिक्षित एवं अशिक्षित नारी की समस्या के साथ ही नारी की आत्मनिर्भरता जैसी समस्याओं का विशदता से चित्रण किया गया है। पश्चिमी सभ्यता, शिक्षा, रहन-सहन, वेशभूषा का बढ़ता हुआ अंधानुकरण और उससे उत्पन्न विभिन्न सामाजिक एवं पारिवारिक संघर्षों का चित्रण भी इस उपन्यास में समुचित रूप से देखने को मिलता है। मध्यवर्ग और नए युग के निर्माण में अंग्रेजों के महत्व को झुठलाया नहीं जा सकता है। पर मध्यवर्गीय समाज में पारिवारिक संघर्ष भी कुछ कम नहीं था। अचल के बड़े भाई ने अचल से कहा- "मैं तुम्हारे लिए नौकरी की कोशिश कर रहा हूँ। अब जरा और ठीक से

कोि ीं , ? च्छ
"80

-" च्छ! ें, स्रूँ "81

-" . . ें र्ी ें ? ें
ें ें ?"82

प्र ों त्त -

ों - , -
ँ त्त क्त
ीं ीं ँ ें दु
, दु क्त प्र , ेंदु हु , हु
ें ें

ों ीं
प्र क्त ों हु ें आँ ों
, , ! ! ज्ज
दू ें
ेंदु त्त दु दुॅ

ोंप्र हु
ँ -ँ प्र ँ प्र
, आँ ों ें
ीं - ीें ों
-" ें ें, ें र्ी -
? ,
- ों !
ीं ? ें,
ें र्ी ! ! ?"83

अचल की सारी प्रसन्नता व उत्साह का लोप हो गया। उसने अपना सिर नीचा कर लिया।

भाई साहब इस समय कुछ उतने गंभीर न थे, जितनी गंभीर बात उनसे कहीं जा रही थी। हँस कर बोले- "वाह! अब क्या मैं इतना कंगाल हो गया हूँ, जो अपने भाई को पढ़ा न सकूँगा।"[84]

भाभी साहिबा ने देखा कि उनकी बात खाली जा रही है, तो तिलमिला उठीं। उन्होंने कहा- "नहीं, तुम तो बड़े रईसजादे हो! पर पढ़ावे तो उसे, जिसका पढ़ने में मन लगे। इसे तो रंडी-मुंडियों के पास बैठने से ही फुर्सत नहीं मिलती है। यह पढ़ेगा किस बखत?"[85]

भाई साहब अप्रतिभ और निरुत्तर हो गए और परिस्थिति की गंभीरता अब उनकी समझ में आयी। वे मन में सोचने लगे- "देखें अब क्या कहती हैं?"[86] अचल का मुँख गुस्से से लाल हो गया, उसके होंठ काँपने लगे। उसे सबसे अधिक अपने चरित्र की निर्मलता का ही घमंड था। उसने कहा- "यह क्या कहा भाभी ! आपने?"[87]

"कहा क्या? क्या कुछ झूठ कह रही हूँ, जो मार लाल-पीले हुए जा रहे हो? बैठते नहीं हो विराग के पास जाकर घंटों? आखिर वह तुम्हारी कौन है, जो उसके पास रोज मुँह फूँकने जाते हो?"[88]

"कोई क्या किसी के पास बैठता-उठता नहीं है, जो आप इस तरह बुरी-बुरी बातें मुँह से निकालती हैं। फिर जब तक एक आदमी के बारे में कोई अच्छी तरह से जान न ले, चरित्र का दोष न लगाना चाहिए।"[89]

"अच्छा! अब जैसा तुम रास्ता बताओगे, वैसी ही तो मैं बातचीत करूँगी। जिसकी तुम वकालत कर रहे हो, अपनी सगी; उसे तो मैं एक दफे नहीं सौ दफे रंडी कहूँगी और तुम्हें बदमाश, जो तुम रोज-रोज उनके पास जाकर बैठते हो।"[90]

"यह तो अपनी-अपनी वृति है। मैं अच्छा हूँ तो उन्हें भी अच्छा समझता हूँ। आप भला तो जग भला। मैंने तो कोई बुराई की बात उनमें अब तक देखी नहीं। इसलिए मेरे वास्ते तो वह अच्छी ही हैं। आपको अगर उनमें बुराई दिख पड़ती है, तो किसी का क्या दोष है?"[91]

भाभी आग बबूला उठी- "यह तुम्हारी जुर्रत! तुम मुझ पर छींटाकशी कर रहे हो।' मैं बदमाश हूँ, इसलिए तुम्हें और उसे बदमाश बताती हूँ। तेरी यह हिम्मत कि तू ऐसी बात मुझे कहे

और वह इन महात्मा की मर्दूमी, जो वह मुझे ऐसी बात सुनवावें? ऐसे भाई के मुँह में आग लगा दे।"[९२]

भाई साहब कुछ न बोले। उनकी समझ में ही नहीं आता था कि वह इस मामले में क्या कहें। न तो उन्होंने अपनी स्त्री को ही कभी इतनी अनौचित्यपूर्ण बातचीत करते सुना था, न अचल को इतनी जवाबदेही करते ही। यह सब देखकर वे मौन ही रहे और मन में सोचते रहे- देखें, आखिर ये लोग किस हद तक बढ़ते हैं।

अचल से विराग के प्रति लगाया गया लांछन सहन न हुआ। बिगड़कर बोला- "देखिए भाभी ! आप समझ-बूझ कर बात नहीं कर रही हैं यह अच्छा नहीं है। मुझे आप चाहे जो कुछ कह लें, उन्हें आप कुछ नहीं कह सकती।"[९३]

भाभी तेज पड़ती गई- "मैं तो हजार बार कहूंगी तू मेरा मुंह पकड़ लेगा? यह तो मेरी तकदीर है जो ऐसे आदमी के पाले पड़ी हूँ, जो यह सब बातें सुनती हूँ, नहीं तेरा इसी दम मुँह फूँक देती।"[९४] यह कहते हुए वे चौके के बाहर एकदम मुँह लाल किए आकर बैठ गई!

अचल भी इस समय आपे में न रहा था। सुनते सुनते वह पक गया था। भाभी के पास आकर बोला- "आपके जो मन में हो उठा न रखिए। क्या करना चाहती हैं, मैं खड़ा तो हूँ।"[९५]

भाभी ने पास ही खड़े अचल के पैर में जोर से हाथ मारकर कहा- "हट न यहाँ से! क्या मुझे खा लेगा? यह अच्छा मेरे लिए कलपाने को पैदा करके छोड़ गई।"[९६]

अचल के भाभी ने जिस हाथ से मारा था, उसे पकड़कर उसने पीछे ढकेल दिया और बोला - "जाता हूँ! तेरी यही मर्जी है तो यही सही।"[९७]

भाभी अचल के हाथ पकड़कर हटाते ही बदन ढीला करके गिर पड़ीं और बोली- "जा तेरी आधी रात को लाश निकले। असल बाप का होगा तो आज से मेरे चौके में न आना। पाल-पाल हुई हौं जी का काल।"[९८] इतना कहके वह सिसक-सिसक के रोने लगी। जैसे उन्हें किसी ने बड़ा भारी घाव मार दिया हो।

अब भाई साहब के दिल पर चोट लगी। उन्होंने अचल को ऐसी लाल आँखों से देखा, जैसे अपनी आँखों की ज्वाला से उसे वहीं जला देंगे।

अचल घर से बाहर निकल गया।

इस उपन्यास में मिश्रजी ने समाज के मध्यवर्ग की परम्परा, संस्कार, रहन-सहन, मनोवृत्तियाँ, आदतें, बोलचाल तथा अन्य समस्याओं का सजीव एवं मार्मिक चित्रण किया है और मध्यवर्गीय समाज के लेखक व मजदूर जीवन का भी बड़ा ही मार्मिक एवं जीवन्त चित्रण किया है।

"जिनका परिवार बड़ा है, उनका यह हाल है की एक वक्त भी भरपेट रोटी मिलने में मुश्किल पड़ती है। कुछ चने चबाकर ही गुजर करते हैं। जिस दिन रोटी-दाल से भेंट हो जाती है, सब लोग बड़े आनन्द-मग्न होते हैं। उनके क्वार्टर बड़े ही गंदे और तंग हैं। मजदूरों के पास एक कोठरी है, उसी में खाना बनाता है। जो कुछ अगड़म-बगड़म है, वहाँ रखा जाता है, उसी में परिवार चाहे जितना भी लोगों का हो, सब उसी गली, सील-खाई जमीन पर अपनी फटी बिछौनिया विछाकर सोते है। कई जगह तो एक और मजदूर खाना बना रहा है, दूसरी ओर एक फटा पर्दा डाले उसकी पत्नी जच्चा की अवस्था में पड़ी है या कोई संक्रामक रोगों से ग्रसित बीमार पड़ी खाँस रही है।....

एक दूसरा चित्र है- जो कुछ अच्छी मजदूरी पा जाते हैं, वे ताड़ी, शराब, जुए में सब खो देते हैं।

लेखक ने यह सब आँखों से देखा है और उतनी ही सजीवता से पाठक के सामने रख दिया है।

एक और मार्मिक चित्र दृष्टव्य है- "उस दिन घर में कुछ खाने को न रह गया था। दोनों बच्चे मुरझाए मुंह लिए चटाई पर पड़े थे और छोटा गोद का बच्चा भूखी माँ की छातियों को नोच-नोचकर दूध न पाने की वजह से गला फाड़-फाड़कर चिल्ला रहा था।"[99]

मध्यवर्गीय समाज में व्यक्ति के ऊपर समाज की वरीयता, पारिवारिक कलह, मजदूरों और निर्धनों की पक्षधरता, मलिन बस्तियों का चित्र, मजदूर आंदोलनों का समर्थन, स्त्री विशेषतः विधवा-स्त्री के प्रति सहानुभूति आदि ऐसी अनेक बातें है, जो इस उपन्यास को प्रगतिशील उपन्यासों की अग्रपंक्ति में रखती है।

पंडित गंगाप्रसाद मिश्र का उपन्यास 'संघर्षों के बीच' दूसरा उपन्यास है, जिसमें लखनऊ के

निम्न मध्यवर्ग के एक परिवार की कहानी कही गयी है। उसकी कथावस्तु उन्होंने जीवन के कठोर वास्तविकताओं से ली है। बाबूजी, भाभी, त्रिलोकी, राजू कल्पना लोक के नहीं इसी दुनिया के प्राणी हैं। लेखक इस परिवार को जनता है। इसीलिए चित्रण में बहुत सच्चाई है। लेखक के शब्दों में- "इस उपन्यास में कल्पना का वही स्थान है, जो तरकारी में मिर्च मसाले का होता है।"[100] अपने परिचित जीवन की पृष्ठिभूमि से अपने कथानक और पात्रों को उठाकर लेखक ने यथार्थवादी उपन्यास की बड़ी पूर्ति की है।

'शहरी जीवन की इन मध्यम एवं निम्न मध्यम वर्गीय उपन्यासों की ऐसी भी 'उपकोटि' है जिसमें एक परिवार को लक्ष्य बनाकर उसके विभिन्न सदस्यों की लगभग स्वतंत्र उपकथाओं को एक संश्लिष्ट कथानक में प्रस्तुत किया जाता है। हिंदी के सुप्रसिद्ध कथाकार श्रीलाल शुक्ल के शब्दों में- "अंग्रेज़ी में गल्सवर्दी का 'फरसाइट सागा' इसी श्रेणी के उपन्यासों में है। हिंदी में भगवती चरण वर्मा का 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' और नए उपन्यासों में गोविंद मिश्र का 'पांच आंगनों वाला घर' तथा ज्ञान चतुर्वेदी का 'बारहमासी' भी इसी श्रेणी के हैं। पर इस कोटि के उपन्यासों में संभवतः पहला और गुणवत्ता की दृष्टि से पहली पंक्ति का उपन्यास गंगाप्रसाद मिश्र का 'संघर्षों के बीच' है।"[101]

पंडित गंगाप्रसाद मिश्र के कथा-साहित्य में वर्णित मध्यवर्गीय समाज धन के अभाव के कारण अनुचित कार्य करने के लिए बाध्य दिखाई पड़ता है। यह वर्ग समाज के पूँजीपतियों एवं उच्चवर्ग से संघर्ष की भावना रखकर अपनी उन्नत की बात भी सोचता है। मिश्रजी मध्यवर्ग एवं निम्न-मध्यवर्गीय लोगों में व्याप्त रूढ़ियाँ, अंधविश्वास, आस्था-अनास्था, आशा-निराशा, नैतिकता -अनैतिकता आदि को प्रस्तुत करने में सफल रहे हैं। साथ ही उनकी उन्नति हेतु नारी-शिक्षा, समानाधिकार तथा आत्मनिर्भरता को उन्होंने महत्वपूर्ण बताया है, जिससे इस वर्ग की समस्याओं के निराकरण हेतु महत्वपूर्ण प्रयास किया जा सकें।

१.३ गंगाप्रसाद मिश्र के कथा साहित्य में लखनऊ का सांस्कृतिक जन-जीवन

गंगाप्रसाद मिश्र ने अपने कथा-साहित्य में लखनऊ के सांस्कृतिक जीवन को बड़ी सूक्ष्मता से अभिव्यक्त किया है। विश्व में अनेक प्राचीन संस्कृतियाँ विद्यमान थी। अपनी सभ्यता और संस्कारिता के लिए वह विश्व प्रसिद्ध रही हैं। अधिकतर विदेशी एवं भारतीय संस्कृतियाँ प्राचीन संस्कृति के अन्तर्गत आती है। साम्राज्य-विस्तार की लालच एवं आक्रमण करने की प्रवृत्ति ने

सभी संस्कृतियों को नष्ट-भ्रष्ट किया है। उनके स्मृति चिह्न भी आज अपवाद स्वरूप उपलब्ध है। परन्तु भारतीय संस्कृति आज भी मौजूद है। कई संस्कृतियों को भारतीय संस्कृति ने प्रभावित व आत्मसात् किया है, जिनको अलग करना सम्भव नहीं है।

संस्कृति से तात्पर्य संस्कार युक्त स्थिति और जीवन से होता है। आज संस्कृति का व्यापक अर्थ लिया जाता है। सम्पूर्ण मानवीय-विचार, चेष्टाएँ, कर्म आदि जो मानव के आध्यात्मिक, लौकिक, धार्मिक और राजनीतिक क्रियाकलापों के कारण परम्परा का रूप धारण कर लेते हैं, वे संस्कृति के अन्तर्गत आते हैं। संपूर्ण विधि-विधान एवं नियम संस्कार, परंपराएँ, शिक्षाएँ, नैतिकता, चरित्र आदि को मनुष्य समाज से प्राप्त करता है। ये सभी क्रियाएँ एवं विचार संस्कृति के अंतर्गत आते हैं।

गंगाप्रसाद मिश्र ने अपने कथा-साहित्य में अधिकतर शहरी-जीवन का वर्णन किया है। उन्होंने शहरी-संस्कृति के विभिन्न आयामों को अभिव्यंजित करते हुए पाठकों को उसके विभिन्न स्वरूपों से अवगत कराया है। कथा-साहित्य में चित्रित कथावस्तु के आधार पर उनमें चित्रित लोग और सामंती-पूँजीवादी तथा सामाजिक-संस्कृति के सुदृढ़-चित्र देखने को मिलते हैं। जहाँ तक साहित्य संबंधी लेखों का सवाल है, एक निबन्धकार के रूप में गंगाप्रसाद मिश्र की अपनी कला-दृष्टि बेलाग शब्दों में व्यक्त हुई है। वे युग के साथ चलते रहे हैं। उन्होंने प्रसादजी के प्रयासों की समीक्षा करते हुए एक स्थल पर स्पष्ट अंकित किया है- "मैं इस जगह पर उनसे सहमत नहीं हूँ। यह ठीक है कि कलाकार पर बेलाग होना अच्छा है। उसका कार्य उपदेशक का नहीं है। परन्तु जब देश में जागृति उत्पन्न करने की आवश्यकता पग-पग पर अनुभव की जाती रही हो, थोथी कलात्मकता से काम नहीं चल सकता। इस दोष के कारण औसत दर्जे के पाठक को उनके उपन्यास निरुर्देश से मालूम होते हैं।"[102] मिश्रजी की उक्त धारणा पर विवाद हो सकता है। कला के प्रयोजन को लेकर यह विवाद शताब्दियों से चला आ रहा है : कुछ के लिए कला केवल आत्माभिव्यंजना रही है। उनकी दृष्टि में कला का आत्माभिव्यंजना के अतिरिक्त कोई दायित्व नहीं है। दूसरा पक्ष कला को मनुष्य और समाज के उत्कर्ष में महत्वपूर्ण भूमिका निभाने का दायित्व सौंपता है। ऐसे विचारों की कला अपनी जन्मदात्री स्थितियों और अपने परिवेश से उदासीन रहकर उचित सामाजिक भूमिका अदा न करके केवल वैयक्तिक-व्यसन अथवा मनोविनोद की साधन मात्र रह जाएगी। दोनों ही दृष्टियों के अपने-अपने तर्क हैं : दोनों में ही सत्यांश है! पर देश और जाति के संक्रांति-काल में, जबकि परि-चिंतन और परिश्रम आवश्यक

नहीं, अनिवार्य भी हो, कलाकार को सामाजिक भूमिका से अलिप्त नहीं रहना चाहिए यह सत्य निर्विवाद है। मिश्रजी की इस धारणा से सहमत होते हुए भी प्रसाद संबंधी उनकी टिप्पणी से असहमत हुआ जा सकता है। इस बात को संभवत वह भी स्वीकार करेंगे कि अनेकानेक अनिवार्यताओं के बीच दायित्व-स्वर के चयन की स्वतंत्रता कलाकार को होनी ही चाहिए, अन्यथा समस्त साहित्य, जाति का साहित्य एक दूसरे की कार्बन कॉपी ही रह जाएगा। प्रसाद ने उपन्यासों में अपना क्षेत्र 'राजनीति' को न चुनकर 'समाज' को चुना है। उसके विकलांग और विगलित को चुना है तथा समसामयिक-परिवेश में उसकी भयंकर असंगति या विसंगति को व्यंजित किया है। यह ठीक है कि औसत दर्जे के पाठक के लिए प्रसाद साहित्य नहीं है।

जो लोग कला को निरपेक्ष और स्वतंत्र नहीं मानते, वे कला को समाज, सभ्यता और संस्कृति के आयामों में देखने के अभ्यस्त हैं ही पर जो लोग कला को बिल्कुल अतिवादी दृष्टि से नहीं देखते तथा आत्माभिव्यंजना के अतिरिक्त कला में संस्कार-सिंचन की महत् शक्ति से भी परिचित हैं, वे कला से सभ्यता और संस्कृति के विकास की कामना करते हैं। यही बात मिश्रजी के विचारों में भी दृष्टिगत होती है। उनकी दृष्टि में "कला वही है, जो मनुष्य को सभ्यता और संस्कृति के मार्ग पर आगे बढ़ने की शक्ति प्रदान करे।"[103] सभ्यता और संस्कृति का संबंध इतिहास के गहरे-बोध से जुड़ा हुआ है। दूसरे शब्दों में कहा जाए तो यह कह सकते हैं कि मिश्रजी परोक्ष रूप से ऐसी कला के पक्षधर हैं, जो मनुष्य में सही इतिहास-बोध पैदा कर भावी संस्कृति और सभ्यता के विकास में योग देने की क्षमता पैदा कर सके। प्रत्येक युग की कला अपने इस दायित्व से विमुख होकर जीवंत नहीं रह सकती।

गंगाप्रसाद मिश्र अच्छे संस्कारों तथा श्रेष्ठ मूल्यों के द्वारा समाज को मनुष्यता की ऊँचाई की दिशा में आगे बढ़ाने के हिमायती हैं, तो दूसरी ओर स्त्री और दांपत्य संबंधों की उत्कृष्टता को सुख में जीवन का आधार मानते हैं। 'छोटा परिवार-सुखी परिवार' की धारा को पुरस्कृत करते हैं, जो अतिथि सेवा जैसे पारंपरिक सामाजिक मूल्य को अधिमान देते हैं। उनके रूप तोहर चाँद भला सब तारों से पावन जैसे रूपक समाज की मूल्य आधारित को मजबूत करते हैं नानक तथा कबीर जैसे निरूपक सांप्रदायिकता की हिंसा में तथा मन की पवित्रता से भरी धार्मिकता के अपमान करते हैं यह सभी रचनाकार की जरूरतों को पूरा करते हैं और अपने समय को बताते भी हैं कि उसकी जरूरत ही क्या है इस प्रकार यह रूप जनसंचार के दो प्रशिक्षण तथा के रश्मि खोलते हुए कला को लोक जागरण की जमीन पर विकसित करते हैं। कहने का तात्पर्य यह है

कि मिश्र जी ने अपने कथा साहित्य में लखनवी संस्कृति के विभिन्न स्वरूपों पर विचार किया है।

गंगाप्रसाद मिश्र ने अपने 'तस्वीरें और साये' उपन्यास में तत्कालीन संस्कृति के विविध आयामों पर प्रकाश डाला है। इस उपन्यास की कथावस्तु निम्न मध्यवर्ग के रहन-सहन और उसके अभावग्रस्त जीवन का चित्रण है। इस उपन्यास में गंगाप्रसाद मिश्र जी ने द्विविध कथानकों के माध्यम से मध्यवर्गीय समाज के दो भिन्न पक्ष प्रकाश में लाते हैं और शहरी जीवन के चित्रण में इन्हें परस्पर पूरक कहा जा सकता है। इन्ही दो निम्न मध्यवर्गीय परिवार के युगीन परिस्थितियों का चित्रण कर उनके सांस्कृतिक जन-जीवन का उल्लेख किया है। भागवत धर्म की स्थापना और सांस्कृतिक समन्वय के माध्यम से मिश्र जी इन परिवारों के प्रति निष्ठा एवं श्रद्धा की भावना को अभिव्यक्त किया है। इससे गंगाप्रसाद मिश्र जी की संस्कृति के प्रति जागरूकता प्रदर्शित होती है।

गंगाप्रसाद मिश्र ने अपने कथा-साहित्य के अंतर्गत उपन्यासों- 'विराग', 'मुस्कान है कहाँ', 'जहर चाँद का', 'महिमा', 'तस्वीरें और साये', 'सोनरवाणी के पार', 'संघर्षों के बीच' एवं कहानियों 'महराजिन', 'मूसाफिर', 'चर्खे के बाद', 'कफन खसोट', 'खानदानी पीलू', 'आँखों का पानी', 'मलका', 'सपनों की दुनिया', 'कर्तव्य', 'दूधपूत', 'खिलौने का दहेज़', 'पत्थर की लकीर', 'जीवन', 'मातृभूमि के लिए', 'जननी और जन्मभूमि', 'कला का रोजगार', 'सपनों की दुनिया' आदि में विभिन्न स्वरूपों में संस्कृति के चित्र प्रस्तुत किए हैं। तत्कालीन प्राचीन कथावस्तु के कथा साहित्यों के साथ-साथ आधुनिक कथा साहित्यों में शहरी संस्कृति को नवीन रूप में प्रस्तुत किया है। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से हम इसे निम्नलिखित तीन बिन्दुओं में विभाजित कर सकते हैं-

(१.) लोक संस्कृति

(२.) पूँजीवादी संस्कृति

(३.) सामाजिक संस्कृति

(१.) लोक संस्कृति

संस्कृति के लोकदर्शन धातु में 'धन्' प्रत्यय लगाने पर 'लोक' शब्द बना। इस लोकदर्शन धातु का अर्थ देखना होता है। जिसका लट् वकार अन्य पुरुष एक वचन का रूप 'लोकते' है।

अतः लोक शब्द का अर्थ हुआ देखने वाला। अतः वे सभी जन समुदाय जो इस कार्य को करता है 'लोक' कहलाता है। लोक शब्द अत्यंत प्राचीन है। ऋग्वेद में पुरुष सूक्त में 'लोक' शब्द का प्रयोग जीव तथा स्थान दोनों के लिए हुआ है। पाणिनी कृत अष्टाध्यायी में, पतंजलि के महाभाष्य में तथा भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में लोक शब्द का प्रयोग शास्त्रेतर, वेदेतर और सामान्य-जन के अर्थ में हुआ हैं।

कहने का भाव यह है कि जिनका ज्ञान जीवन के अनुभवों पर आधारित है अतः लोक संस्कृति जन-सामान्य के जीवन अनुभवों की अभिव्यक्ति करने वाले साहित्य का नाम है।

लोकसाहित्य उतना ही प्राचीन है, जितना की मानव क्योंकि; इसमें जन-जीवन की प्रत्येक अवस्था, प्रत्येक वर्ग, प्रत्येक समय और प्रकृति सभी कुछ समाहित है। लोक साहित्य एक तरह से जनता की संपत्ति है। इसे लोकसंस्कृति का दर्पण भी कहा जाता है। जन संस्कृति का जैसा सच्चा एवं सजीव चित्रण लोक साहित्य में मिलता है, वैसा अन्य कहीं नहीं मिलता। सरलता और स्वभाविकता के कारण यह अपना एक विशेष महत्व रखता है। साधारण जनता का हँसना, रोना, खेलना, गाना जिन शब्दों में अभिव्यक्त हो सकता है वह सब कुछ लोकसाहित्य में आता है।

लोक साहित्य का विषय क्षेत्र जन्म से लेकर मृत्यु तक के समस्त भावों को संजोए हुए हैं। यह साहित्य मनुष्य के अतीत पर प्रकाश डालता है। यह जनसामान्य की प्राचीन संस्कृति, मान्यताओं एवं परंपराओं में पूर्ण विश्वास की अभिव्यक्ति करता है। हिंदी में प्रचलित लोक साहित्य शब्द अंग्रेजी के Folk literature शब्द का अनुवाद है। 'लिटरेचर' शब्द 'लैटर्स' से निकला है, जिसका अर्थ साहित्य में केवल लिखित और पठित रूप को अभिव्यक्ति देता है, जबकि विद्वानों का मानना है कि साहित्य को केवल लिपि में संकुचित नहीं किया जा सकता। इसलिए मौखिक रूप से अभिव्यक्त साहित्य को यदि साहित्य में शामिल कर लिया जाए तो इसका स्वरूप और भी व्यापक हो जाता है। लोकसाहित्य अधिकतर मौखिक रूप में ही मिलता है। वर्तमान में वह लिपिबद्ध भी किया जा रहा है।

लोकसाहित्य को परिभाषित करने के लिए विद्वानों ने निम्नलिखित मत दिए हैं :

डॉ० भोलानाथ तिवारी के अनुसार लोकसंस्कृति एक व्यापक शब्द है- "जिसके अंतर्गत जन जीवन से संबंधित सभी आचार विचार, विधि निषेध, विश्वास, मान्यताएं, प्रथाएं, परंपराएं,

अनुष्ठान आदि आ जाते हैं।"[104]

हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लोक की अत्यंत सहज और सारगर्भित परिभाषा देते हुए कहा है- “लोक शब्द का अर्थ जनपद या ग्राम्य नहीं है बल्कि; नगरों और गाँवो में फैली हुई वह समस्त जनता है, जिसके व्यावहारिक ज्ञान का आधार पोथियाँ नहीं है। ये लोग नगर के परिष्कृत रुचि-संपन्न, सुसंस्कृत समझे जाने वाले लोगों की अपेक्षा सरल और अकृत्रिम जीवन के अभ्यस्त होते हैं।"[105] उक्त परिभाषा न केवल लोकसंस्कृति की सरल, व्यावहारिक तथा नैसर्गिक जीवन-पद्धति पर प्रकाश डालती है बल्कि; नगरीय-संस्कृति से उसके अंतर को भी स्पष्ट करती है। लोकसाहित्य जनता के विश्वासों, रीति-रिवाजों, मंत्र-तंत्र और जादू-टोने का साक्षात प्रमाण है, जो अपनी प्रेरणा, सामान्य जीवन से प्राप्त करता था और जिसकी बौद्धिक विचारधारा भी अपेक्षाकृत अल्प परिष्कृत थी।

धीरेंद्र वर्मा, “वास्तव में लोकसाहित्य वह मौखिक अभिव्यक्ति है, जो भले ही किसी व्यक्ति ने गढ़ी हो किन्तु; आज इसे सामान्य लोकसमूह अपनी ही मानता है। इसमें लोकमानस प्रतिबिंबित रहता है।”[106]

डॉ० त्रिलोचन पांडेय के अनुसार- “जन-साहित्य या लोक-साहित्य उन समस्त परंपराओं, मौखिक तथा लिखित रचनाओं का समूह है जो किसी एक व्यक्ति या अनेक व्यक्तियों द्वारा निर्मित तो हुआ है किन्तु, उसे समस्त जन-समुदाय अपना मानता है। इस साहित्य में किसी जाति, समाज या एक क्षेत्र में रहने वाले सामान्य लोगों की परंपराएँ, आचार-विचार, रीति-रिवाज, हर्ष-विषाद आदि समाहित रहते हैं।”[107]

कृष्णदेव उपाध्याय के अनुसार- “सभ्यता के प्रभाव से दूर रहने वाली अपनी सहज अवस्था में वर्तमान जो निरक्षर जनता है, उसकी आशा-निराशा, हर्ष-विषाद, जीवन-मरण, लाभ-हानि, सुख-दुख आदि की अभिव्यंजना जिस साहित्य में प्राप्त होती है, उसे लोक-साहित्य कहते हैं। इस प्रकार लोकसाहित्य जनता का वह साहित्य है जो जनता के द्वारा जनता के लिए लिखा गया हो।”[108]

डॉ. रवींद्र भ्रमर के अनुसार- “लोकसाहित्य जनमानस की सहज और स्वाभाविक अभिव्यक्ति है। यह बहुधा अलिखित ही रहता है और अपनी मौखिक परंपरा द्वारा एक पीढ़ी से

दूसरी पीढ़ी तक आगे बढ़ता है।"[109]

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि लोकसंस्कृति हमारे जन-जीवन समस्त की झाँकी प्रस्तुत करती है। इसमें प्रचलित सभी प्रकार उत्सव, मेले, रीति-रिवाज, त्यौहार, लोक-कथाएँ आदि सम्मिलित रहते हैं।

गंगाप्रसाद मिश्र के 'तस्वीरें और साये' उपन्यास में लोक संस्कृति के विभिन्न स्वरूप देखने को मिलते है। जिसमें लखनऊ के कथक-नृत्य को मिश्रजी ने सुदृढ़ अभिव्यक्ति प्रदान की हैं- "लखनऊ को अपने कथक-नृत्य पर बड़ा नाज है। इसमें कोई संदेह भी नहीं है कि भारत में जितने नृत्य प्रचलित हैं, उनमें कथक-नृत्य का बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान है। बिजली-सी होड़ लेने वाली गति, भाव-प्रदर्शन की विविधता, राधा-कृष्ण की लीलाओं का मनोरम-चित्रण ऐसे गुण हैं, जिन्होंने इस नृत्य को उत्तरी भारत के दरबारों में लोकप्रिय बना दिया था।"[110]

कथक-नृत्य जनता के भी गले का हार रहा है। "इस नृत्य का भारत में प्रचार करने वाले केवल दो घराने थे- एक 'लखनऊ घराना' और दूसरा 'जयपुर घराना'। जनता इस नृत्य को कथक नाम से ही जानती थी, यद्यपि इसका शास्त्र-सम्मत नाम था- 'नटवरी'।"[111] राष्ट्रीयता के प्रचार के साथ जब देश के प्रांतों का एक-दूसरे से संपर्क बढ़ा और लोगों ने अपने देश में संस्कृति के बिखरे हुए अवयवों को एकत्र करके भारत अथवा भारत माता के अधिक विशाल और मोहक रूप को हृदय में सजाना चाहा, तभी उस समय संयुक्तप्रांत कहलाने वाले आज के उत्तरप्रदेश की जनता ने 'मनीपुरी कथकली' और 'भरतनाट्यम' से भी परिचय कर लिया। अन्यथा उनका अंतरंग तो 'नटवरी' नृत्य ही था।

अवध के कलाप्रेमी नवाब वाजिदअली शाह के नृत्य-गुरू थे महाराज ठाकुर प्रसाद मिश्र, जिनका रियाज अभ्यास की सीमा को पार करके तपस्या को समकक्ष पहुँच गया था। अवध के बादशाह ने जहाँ अपने इन कलागुरु को सोने नहीं, जवाहरातों से तौल दिया। वहीं जो सम्मान, श्रद्धा और आदर इन्हें दिया गया, वह अनुपम ही था। वह किस कोटि के कलाकार थे। आज कलागत-बौनों के युग में उसका अनुमान होना कठिन है। रस, माधुरी और कल्पना उनकी दासियाँ थीं। संगीत की अनवरत-साधना से उन्होंने इन्हें अपने वश में कर लिया था। गीत की टेक लेकर वह उसका भाव बतलाना शुरू करते तो रात की रुपहली चाँदनी प्रातःकाल की अरुणिम-उषा में बदल जाती। आपका गणेश परन नृत्य तो दर्शकों को बेसुध ही कर देता था।

अवध के नवाबों की विशेषता यह थी कि अपनी सारी शानो-शौकत के बावजूद उन्होंने जनता को कभी हेय नहीं समझा। अपनी औलाद की ही तरह उसकी परवरिश करने में उनका यकीन था। उसके सुख दु:ख में वे हमेशा शामिल होते थे। कला को भी उन्होंने महलों की ऊँची चारदीवारी में कभी बंदिनी बनाकर नहीं रखा। हरम में होने वाली बैठकों को छोड़कर उनके आम -जलसों में जनता स्वतंत्रतापूर्वक आ सकती थी। नवाब वाजिदअली शाह के समय जनता और बादशाह के बीच की दीवारें बिल्कुल ही ढह गई थीं। संगीत और नृत्य के रासलीला प्रभृति आयोजन को देखकर जनता स्वर्गलोग और इंद्रलोक में ही पहुँच जाती थी। उनमें नवाब स्वयं 'कन्हैया' तथा अन्य रूपों में अवतरित होते तो साधारण जन के सपनों को सार्थक कर देते थे।

ठाकुरप्रसाद जी ने अपने पुत्र महाराज बिंदादीन जी को नौ वर्ष की अवस्था से कथक-नृत्य की शिक्षा देना आरंभ कर बारह वर्ष की अवस्था में ही ऐसा पारंगत कर दिया था कि बिंदादीन भारत के प्रसिद्ध पखावजी श्री कुदऊ सिंह को 'दून' फेंकने में नवाब वाजिदअली शाह के दरबार में मात दे सके थे। श्रीकृष्ण के अनन्य भक्त महाराज बिंदादीन ने अपने नृत्य और ठुमरियों को श्रीकृष्ण की रूप-माधुरी और प्रेमरस से सराबोर कर दिया। उनकी ख्याति भारत के कोने-कोने में पहुँच गई और विभिन्न प्रांतों के गायक, गायिकाएँ, नर्तक और नर्तकियाँ उनके शिष्यत्व का गौरव प्राप्त करने के लिए आने लगी। उस गायक या गायिका में न्यूनता समझी जाती थी, जो बिंदादीन की ठुमरियाँ न गा सके। उनके भाई कालका प्रसाद काशी में रहकर संगीत और नृत्य की शिक्षा अपने शिष्य और शिष्याओं को देकर कला की सेवा करते रहे। निसंतान बिंदादीन जी ने कालका प्रसाद, के तीन पुत्रों जगन्नाथ प्रसाद (अच्छन महाराज) बैजनाथ प्रसाद (लच्छू महाराज) और शंभू महाराज में से सबसे बड़े अच्छन महाराज को तालीम देनी शुरू की और अच्छन ने यह सिद्ध कर दिया कि वह योग्य गुरु के योग्य शिष्य होने की क्षमता रखते हैं। उच्चकोटि के चरित्र, अनवरत परिश्रम और साधना ने अच्छन महाराज को बीसवीं शताब्दी का नृत्य-सम्राट ही बना दिया। उनका शरीर देखने में स्थूल लगता था, परन्तु ढाई-ढाई सेर के घूँघरू बाँध कर जिस समय वह मंच पर खड़े होते थे, तो बिजली की-सी तेजी उनके शरीर में भर जाती थी। भारत के बड़े-बड़े तबलिए उनके साथ संगत करने में घबराते थे। मुख की आकृति, नेत्र संचालन तथा हाथों की मुद्राओं से भाव का भली-भाँति प्रदर्शन करके वह दर्शकों को आश्चर्यचकित कर देते थे। अपने पूर्वजों से संस्कार में पाया नृत्य का यह वैभव लच्छू महाराज को पर्याप्त प्राप्त हुआ। उनकी युवावस्था लखनऊ में ही व्यतीत हुई। परन्तु बाद में रामपुर,

बीकानेर, हैदराबाद आदि दरबारों में रहकर आप अपनी कला का प्रदर्शन करते रहे। कुछ दिन बाद आपकी रुचि सिनेमा-संसार की ओर मुड़ गई। वहाँ हाथों-हाथ आपका स्वागत हुआ। वे नृत्य-निर्देशक का कार्य करने लगे।

पंडित गंगाप्रसाद मिश्र शंभू महाराज के विषय में लिखते है- "कालका महाराज के अंतिम पुत्र शंभू महाराज कमनीयता, कांति और मोहकता के आगार हैं। उनके ऐसे भावमय, ज्योतिर्मय तथा हृदय के पार हो जाने वाले नेत्र संसार में बिरले लोगों को ही प्राप्त होते हैं। यद्यपि वह लय के मालिक हैं, परन्तु अपने नृत्य को उन्होंने भाव-प्रधान बनाया है। कथक-नृत्य प्रणाली में शोक, आशा, निराशा, घृणा, प्रेम, क्रोध इत्यादि की अभिव्यक्ति का समावेश आपने जिस कुशलता से किया, उससे शंभू महाराज जनता के हृदय के सम्राट ही बन गए।"[112]

पंडित गंगाप्रसाद मिश्र ने यह भली-भाँति अनुभव किया कि भारतीय समाज की आत्मा लोक संस्कृति में बसती है। इसीलिए उनके कथा-साहित्य में लोकसंस्कृति का महत्वपूर्ण स्थान है। संस्कृति की पहचान बनाए रखने के लिए उसमें लोक संस्कृति का स्थायित्व अत्यावश्यक है। लोकजीवन के विश्वास एवं मान्यताओं को मिश्रजी ने इस प्रकार अभिव्यक्ति किया है- "लखनऊ हम पर फिदा और हम फिदा-ए लखनऊ, आसमाँ की क्या है ताकत जो छुड़ाए लखनऊ"[113] कहने वाले लखनऊ में पहले भी थे, आज भी उनकी कमी नहीं है। जनता को सामाजिक परंपराओं एवं रीति-रिवाजों के अनुसरण में स्वयं आनंद मिलता है। वे आस्था के साथ उसको संपन्न करते हैं। धार्मिक मान्यताओं को पूर्ण करके उन्हें आत्म-संतुष्टि की प्राप्त होती है। आत्म-संतुष्टि के साथ ही वे अपने जीवन के अभावों को भूलकर इसमें मग्न हो जाते हैं, तथा सुख का अनुभव करते हैं।

अपने जीवन के लगभग पचास वर्ष तक लखनऊ के बाहर न जाकर जितना बड़ा त्याग शंभू महाराज ने किया और साबित कर दिया कि वह लखनऊ के सच्चे आशिक हैं, वैसे उदाहरण बहुत थोड़े मिल सकते हैं। जब तक घर में पैसा रहा, उसे दोनों हाथ उलीचते रहे। उनके यार-दोस्तों ने, उनके शिष्य और पड़ोसियों ने, संगीत की अमूल्य अनवरत दान के साथ जैसा खाना-पीना उनके साथ पाया है, वह बड़ों-बड़ो के लिए कल्पना की वस्तु है। राजा-महाराजा-नवाब बुलाते रहे, फिल्म-कंपनियों के निमंत्रण आते रहे; परन्तु शंभू महाराज अपने प्यारे लखनऊ के साये से जुदा होने को तैयार न हुए। यहाँ उन्होंने शहजादों की-सी राजसी-जिंदगी बिताई थी, चार

को खिलाकर खाया था परन्तु समय ऐसा बदला कि उन्हें वहाँ ही रोटियों के लाले पड़ने लगे। मौरूसी मकान गिरवीं रख दिया गया, लेकिन शंभू ने लखनऊ न छोड़ा। ऐसो-इशरत की दुनिया को वह ठुकराते रहे और गरीबी में गुजर करते हुए लखनऊ के गली-कूचों में संगीत की अलख जगाते रहे। कोई फटेहाल कला-प्रेमी हाथ बाँधकर उनके सामने खड़ा हो जाता और कहता- "भैया! मेरी लड़की का ब्याह है। बारातियों के सामने तुम्हारा मुजरा हो जाता तो वह भी याद रखते कि बारात में लखनऊ गए थे तो ऐसा गाना सुना था, ऐसा नाच देखा था, कि मरते दम तक याद रहे। "मेरी क्या तौफीक है जो तुम्हारी कुछ खिदमत कर सकूँ, पर इतनी हिम्मत इसलिए कर गया कि लखनऊ की लड़की है। आखिर तुम पर भी तो कुछ हक पहुँचता है उसका।"[114] शंभू महाराज उस कला के आशिक को एक मोटी-सी गाली देने की बाद कहते- "साला चला है शंभू को फर्ज बतलाने! जा-जा अपना काम देख। बरातियों की खातिर का इंतजाम कर। तूने लखनऊ का वास्ता दिया है, तेरे दरवाजे जरूर आऊँगा"[115]

नियत दिन, बिना किसी साजो-सामान के एकाध गैस की रोशनी में दरी पर बैठे हुए शंभू महाराज की स्वर लहरी हारमोनियम के सहारे गूँजती होती-

'अकेली मत जइयो राधे जमुना के तीर।'[116]

लोकजीवन में कला का विशेष स्थान है। आज भारतवर्ष में अनेक स्थानों पर हर्षोल्लास के साथ मनाया जाता है, चाहे वह कोई भी ऋतु हो सभी ऋतुओं में विभिन्न प्रकार के लोकगीत अपनी संस्कृति के व्यापक-स्वरूप को स्पष्ट रूप से प्रस्तुत करते हैं। 'सपनो की दुनिया' कहानी में गंगाप्रसाद मिश्र ने मिस्टर दयाल की चर्चा करते हैं- "फैशन के मुताबिक बातचीत करने के लिए मिस्टर दयाल को भारतीय संगीत, कला और संस्कृति की थोड़ी-बहुत जानकारी हासिल करनी पड़ी थी, जिससे समाज में वे बिल्कुल मूर्ख न सिद्ध हों। परंतु भारतीय सभ्यता और संस्कृति की उनकी यह जानकारी बड़ी ही छिछली थी, जिसकी जड़ें किसी भूमि में जमी न होने के कारण हवा में लहरा रही थीं। किसी भी भारतीय कला की गहरी कृति का आनन्द उठाने की सामर्थ्य उनमें न थी। हिन्दी की किसी गम्भीर साहित्यिक रचना से उनका मनोरंजन न हो सकता था।"[117] मिश्रजी ने यह दर्शाने का प्रयास किया है कि लोकजीवन में यदि इस प्रकार की परंपराओं को पूरा न किया जाय तो जीवन में एक फीकापन देखने को मिलता है।

गंगाप्रसाद मिश्र के कथा-साहित्य के अंतर्गत उनके उपन्यास 'विराग' में भी लोक संस्कृति

के समुचित दर्शन होते है। लोक प्रचलित मान्यताओं के चलते समाज में किसी भी अनिष्ट या नुकसान में नारी को ही दोषी समझा जाता है। 'विराग' उपन्यास की नारी पात्र विराग के साथ ऐसा ही होता है। परिवार में अपने पति की मृत्यु पर विराग को अभाग्यशाली कहा जाने लगता है। विराग की संवेदना इस उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है- "विराग विधवा हो गई और उसका बच्चा अनाथ। परंतु दुनिया का पहिया जैसा का तैसा ही घूमता रहा। लोगों के राग-रंग में कोई फर्क न आया। उसकी जेठानियाँ अब भी उसी भाँति अठखेलियाँ करतीं। अब भी उनके पति उनके लिए सेंट की शिशियाँ और बेले के गजरे लाते और वे छम-छम करती अपने पति के शयन-कक्ष की और सुगंध उड़ाती चली जातीं। घर का निकृष्ट काम करती हुई विराग के हृदय पर साँप लोट जाता। उसके हृदय की धड़कन की गति तीव्र हो जाती। उसके मस्तिष्क की दशा विकृत हो जाती और वह आठ-आठ आँसू रोती हुई अपने जलते हुए विछौने पर सारी रात तड़पती रहती। जब तक पति जीवित था, कम-से-कम उसकी प्रतीक्षा का ही सहारा था। रात उसकी राह देखते हुए ही कटती थी। कभी-कभी साक्षात्कार हो जाने की भी संभावना थी। पर अब तो जीवन समाप्त होने पर ही निस्तार था।"[118] इस प्रकार की लोक मान्यताएँ समाज में आज भी प्रचलित हैं। विराग के साथ ऐसा परिस्थितिवश होता है। परन्तु सब यही पूछते हैं कि वह अभागिन है। इस प्रकार की लोक मान्यताओं को उजागर कर पंडित गंगाप्रसाद मिश्र ने लोक संस्कृति की संकीर्ण विचारधारा को प्रस्तुत किया है।

गंगाप्रसाद मिश्र ने 'विराग' उपन्यास में विशेष रूप से लखनऊ की संस्कृति की वर्तमान स्थिति का वर्णन किया है। इसमें मिश्र जी ने निम्न-मध्यवर्ग के मजदूरों के संस्कारों की महत्ता को दिखाया है। इस उपन्यास का पात्र अचल जो निम्न मध्यवर्ग के मजदूरों एवं संस्कारों से जुड़ा हुआ व्यक्ति है, वह लोक संस्कृति का पूर्ण निष्ठा के साथ निर्वाह करता है- "कैसे मतलब के हैं सब लोग! अपनी दसबात पड़ती है, तो कैसी खुशामद करते हैं और दूसरे की दफे ये तोता-चश्मी! मुझे नथ दिखाती हैं। लाके दे देतीं, तो वह भी जानता। अब ऐसी कंगाल हो गई हैं कि इनके पास -पाँच रुपए भी नहीं हैं। ये सब न देने की बातें हैं। खैर, यह वक्त क्या हमेशा इसी तरह बना रहेगा? हर्गिज नहीं।"[119] इससे स्पष्ट होता है कि व्यक्ति धनाभाव में भी कोई ग़लत कार्य न करें, परंतु संस्कारों का पालन अवश्य करता है। पंडित गंगाप्रसाद मिश्र ने संस्कारों के साथ-साथ लोक भाषा के महत्व को भी प्रदर्शित किया है।

अपने 'महिमा' उपन्यास में पंडित गंगाप्रसाद मिश्र ने श्रद्धा एवं हृदय की सच्चाई को बड़ी

सजगता से चित्रित किया है। मिश्रजी ने उपन्यास की प्रमुख पात्र महिमा से कहलवाया है- "मैं आपसे अपने हृदय की सच्ची बात कहती हूँ। एक अर्से से मैं आपकी कहानियाँ पढ़ती थी और हृदय में आपकी बहुत श्रद्धा से पूजा-सी करती चली आ रही थी। जब आपको पहली ही बार मैंने देखा, तो मेरे हृदय ने आपको अपना पूज्य और बड़ा भाई मान लिया था। जब आप यहाँ आए तो मैं उसी भाव से आपसे हिल-मिल गई। मुझे ऐसा मालूम हुआ कि जैसे मैं सदा से ही आपके साथ रहती चली आई हूँ। मुझे कोई संकोच नहीं हुआ। हाँ, मुझे इस बात को सोच लेना चाहिए था कि इतना जल्दी खुल जाने से आप पर क्या प्रभाव पड़ेगा। एकाध बार इस बात का ख्याल आया तो यह सोचा कि परीक्षा ही सही।"[120] मिश्रजी ने लोक संस्कृति को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि समाज में हम पनपे हुए श्रद्धा और हृदय की सच्चाई के ढर्रे पर चलते चले जाते हैं। उसकी सत्यता और सही रूप को हम स्वीकार नहीं करते। मिश्रजी संभवतः यहाँ यही संदेश देना चाहते हैं कि लोक संस्कृति के इस प्रकार के स्वरूप में परिवर्तन आवश्यक है।

गंगाप्रसाद मिश्र के 'संघर्षों के बीच' उपन्यास में लोक संस्कृति की छाप स्पष्ट दिखाई देती है। लेखक के शब्दों में इस उपन्यास में जिस सामाजिक संरचना का बिंब मिलता है, उसमें दो प्रमुख इकाइयाँ हैं- संप्रदाय और परिवार। लखनऊ की संस्कृति में हिंदू तथा मुसलमान दोनों संप्रदाय घुले-मिले हैं। कहीं भी किसी भी प्रकार का सामाजिक तनाव या दुराग्रह नहीं है। त्रिलोकी की फिल्म बनाने की कंपनी के लिए युसूफ हुसैन कहानी लिखता है। उसने दो कहानियाँ लिखीं भी- "जहाँ तक मुझे याद है- दोनों ही रचनाएँ सामाजिक थीं और उनमें से एक के पात्र हिंदू थे और दूसरे के मुसलमान। वार्तालाप लिखने का ढंग आगा हश्र कश्मीरी वाला नाटकीय था।"[121] सामाजिक संरचना की दूसरी इकाई है- परिवार। यहाँ परिवार का रूप संयुक्त है। बाबू ब्रजनाथ का परिवार संयुक्त है। तीनों बेटे त्रिलोकी, राजू तथा प्रकाश साथ में रहते हैं। कुछ दिन ब्रजनाथ की मौसी आगरा से आकर साथ रहीं और इसी परिवार में उनकी मृत्यु हुई। उनकी दो बेटियाँ हैं। सावित्री छोटी बेटी है। सब साथ रहते हैं। दूसरा परिवार राय साहब का है। उनका भाई सम्मन साथ रहता है। राय साहब का बेटा लल्लू और कई बेटियाँ भी साथ रहती हैं। तीसरा परिवार नरेटर का है। वह अपने बड़े भाई के साथ रहता है। पूरे उपन्यास में कहीं भी किसी भी परिवार के सदस्यों में आपसी खटास का जिक्र नहीं है। यदि राजू बाहर जाकर नौकरी करता भी है, तो भी अपने परिवार से पूरी तरह जुड़ा हुआ है। इस प्रकार सामाजिक रूप से ये दोनों इकाइयाँ संगठित हैं, विघटित नहीं हुई हैं। तीसरी पड़ोस है, जो पूरी तरह अक्षत है। नरेटर

और त्रिलोकी का साहचर्य पड़ोस के कारण ही है। यह सौहार्द सामाजिक संगठन को प्रकट करता है। यदि विघटन कहीं दिखाई पड़ता है तो 'व्यक्ति' में और 'विवाह' नामक सामाजिक संस्था में। लेखक ने व्यक्ति के स्तर पर व्यक्ति-विघटन के अनेक रूप चित्रित किए हैं। झूठ बोलना, चोरी करना, अपराध करना (हत्या), गबन करना, दाम्पत्येतर यौन-संबंध स्थापित करना व्यक्ति-विघटन के कारण हैं, जो इस उपन्यास में पात्रों को मनुष्यता से गिराते हैं। इनको लेखक का अनुमोदन नहीं मिलता। मद्यपान भी इनमें सम्मिलित है। बाबू ब्रजनाथ की संपत्तिशालिनी मौसी की गला दबाकर हत्या कर दी गई, इसकी सूचना उपन्यास देता है।[122] मद्यपान पर उपन्यासकार की टिप्पणी यह है- "शराब-कवाब ने किसे नहीं ले डाला। न जाने कितने लोग बोतलों के इस बंद पानी में ऐसे डूबे की फिर उबर ही न सके। इस पानी में छिपी आग ने सैकड़ों घरों को खाक कर दिया। यही हाल राय साहब के घर का हुआ।"[123]

इस उपन्यास में पहले से चली आती हुई व्यवस्था और प्रथा जहाँ चरमरा रही है, वह 'विवाह' की संस्था है। यहाँ दो क्रांतिकारी-परिवर्तन दिखाई देते हैं। विवाह की रूढ़ि परंपरा की जगह प्रेम विवाह लेता प्रतीत होता है। हालांकि कर्मकाण्ड वाली विवाह-पद्धति समाप्त नहीं हुई है। त्रिलोकी के दो विवाह होते हैं। पहले विवाह की रस्म कुछ इस तरह पूरी हुई थी- "शाम को ६ बजे जबकि अँधेरा हो रहा था, डॉक्टर साहब ने मुझे और देवी को साथ में लिया और बँगले के पीछे की ओर चले। बँगले के बाहर निकल जाने पर कुछ और आगे बढ़कर घने पेड़ों और फुलवारी से ढका हुआ मंदिर मिला...मंदिर में कोई विशेषता नहीं थी, पर एक रहस्यात्मकता-सी उसके वातावरण में लिपटी हुई मुझे लगती थी। मंदिर काफी साफ-सुथरा था, पर उसमें एक भी पुजारी अथवा अन्य कोई व्यक्ति न दिखलाई पड़ता था। मंदिर के बीचोंबीच एक शिवमूर्ति थी। देवी अपने हाथों में पूजा की एक थाली लाई थी। डॉक्टर साहब के आदेशानुसार हम दोनों ने पूजा की। फिर डॉक्टर साहब ने हम दोनों से हाथ मिलाकर कहा- मैं जो कुछ कहता हूँ उसके गुरुता पर ध्यान दे लो। फिर वचनबद्ध होओ। तुम्हें कहना है- "हम दोनों आज से सुख-दुख में सदैव के लिए एक होते हैं।"....बात को समझते ही हम दोनों ने दोहराया। डॉक्टर साहब ने कहा- तुम्हारे विवाह की कार्यवाही समाप्त हुई। देवता को प्रणाम करो और आओ वापस चलें। तुम्हें एक करने के लिए मेरी समझ में इसे ज्यादा आडंबर की आवश्यकता नहीं है। मेरा आशीर्वाद है, तुम दोनों फूलों-फलो।"[124] यहाँ कर्मकांड को, पुरोहित को, मिथ्याडंबर को, दहेज को, बारात के तामझाम को तथा अनावश्यक तथा अत्यधिक खर्चीले शादियों के उस प्रकार के आयोजनों को

तिलांजलि देने की संस्तुति है, जो कन्या पक्ष के लिए दुर्वह ही नहीं, शोषण के रूप में रूढ़ि बन गई है। देवी त्रिलोकी के विवाह में ही नहीं, बाबू बैजनाथ की बेटी सावित्री के विवाह में भी इसी आडंबरहीनता को सराहा गया है- "विवाह बिल्कुल आडंबरहीन रीति से हुआ। न उसमें दावतों का आयोजन था, न व्यर्थ के ढकोसलों का....।"[125] उपन्यास में विवाह में क्रांतिकारी कदम इसके आगे का यह है कि कन्यादान की परंपरा को भी पूरी तरह नकार दिया गया। सावित्री के विवाह के रूढ़ि-उच्छेद की बानगी यह है- "न जाने कहाँ की क्रांतिकारिता आ गई थीं कि उन्होंने सावित्री का कन्यादान न किया। कहने लगे कि मनुष्य को यह अधिकार नहीं है कि वह मनुष्य का दान करें। एक मनुष्य अपने को इतना महान और कर्ता समझे और दूसरे को इतना तुच्छ व प्राचीन वस्तु के समान कि वह उसे वस्तु के समान दान कर दे। कैसी घोर विडंबना है, कैसा अहंभाव है, मैं यह कभी न कर सकूँगा।"[126] इस प्रकार रूढ़िवादी मान्यताएँ आज भी समाज में अपना स्थान बनाए हुए हैं। पाठकों का ध्यान इस ओर आकर्षित करते हुए गंगाप्रसाद मिश्रजी ऐसी मान्यताओं पर कटाक्ष करते हैं जो समाज के विकास में बाधक है।

पंडित गंगाप्रसाद मिश्र ने 'तस्वीरें और साये' उपन्यास में लोक संस्कृति के दर्शन होते हैं। उपन्यास का प्रमुख पात्र पंडित चंद्रपाल चाहे जो मौसम हो, सवेरे चार बजे उठते, निवृत्त होकर दातुन करते, तब टहलने जाते हैं। अक्सर जब मन ठिकाने रहता, तो सवेरे उठकर पढ़ने वाले बच्चों को आवाज देते जाते और धीमे सुमधुर स्वर में कोई भजन गाते जाते हैं-

"जागिए रघुनाथ कुँवर पंछी बन बोले।

अथवा

उठ जाग मुसाफिर भोर भई, अब रैन कहाँ जो सोवत है।"[127]

उनके गले में लोच और मिठास थी। कभी संगीत सीखने का शौक चर्राया था, जिसे जीविकोपार्जन की बाधाओं के कारण छोड़ना पड़ा था। संगीत सीखने की साध जीवन में पूरी न हो सकी थी। परंतु अच्छा संगीत सुनने का अवसर कभी भी मिलता, तो चूकते न थे। चाहते थे कि बच्चों में कोई अच्छा गायक अथवा वादक हो, तो घर ही में कभी-कभी संगीत का आनंद लिया करें। जिस दिन पंडित जी सवेरे गाते होते, बच्चे जानते कि उनका मूड अच्छा है, तो निर्द्वन्द्व रहते। जिस दिन बच्चों को आवाज देने के साथ उनकी स्वरलहरी न गूँजती होती, तो घरवाले समझते कि या तो आज उनका मन ही कुछ खिन्न है या स्वास्थ्य ठीक नहीं है।

सवेरे टहलकर आने के बाद पंडित जी हजामत बना रहे थे। चंद्रमुखी, आभा और प्रभा आकर खड़ी हो गई।

"बाबूजी, आज हमारे विद्यालय में संस्थापक-दिवस का उत्सव है। आपके लिए निमंत्रण हम लोगों को मिला है। आज आप बैंक से कुछ जल्दी चले आइए और हमारे यहां आइए-"[128] चन्द्रमुखी ने कहा-

"बेटा! बैंक से जल्दी निकलना हो नहीं पाता।"[129] चंद्रभाल ने विवशता प्रकट की।

"और सब लोगों के माता-पिता, जब भी मौका मिलता है, स्कूल आते हैं। बड़ी दीदी से मिलते हैं। दूसरी दीदियों से भी बात करते हैं। दीदी लोग जिनके माता-पिता को जानती हैं, उनसे अच्छा व्यवहार करती हैं और आपको तो कभी फुर्सत ही नहीं मिलती"[130] प्रभा बोली।

"अच्छी बात है! आज मैं आने की पूरी कोशिश करूँगा। क्या-क्या होगा तुम्हारे यहाँ?"[131]

प्रभा बोली- "कविता पाठ, गायन, वादन, नृत्य और एकांकी नाटक।"[132]

"तुम लोग तो किसी चीज में भाग लेती नहीं हो। वहाँ जाओ, दूसरे के बच्चों को गाते-नाचते देखो, तो मन होता है कि काश! अपने बच्चे भी इन चीजों में भाग लेते होते।"[133]

प्रभा बोली- "तो यह आपसे किसने कह दिया कि हम लोग किसी चीज में भाग नहीं लेते...।"[134]

आभा ने कहा- "मैं तो एक अंग्रेजी पोयम पढ़ूँगी।"

"मैं लोक नृत्य में भाग लूँगी-" प्रभा बोली।

चंद्रमुखी ने कहा- "मैं एकांकी नाटक में भाग ले रही हूँ।"

चंद्रभाल बोले- "यानी, तुम सभी लोग भाग ले रही हो?"

"तभी सब मिलकर खुशामद करने आई हो अच्छा भाई जरूर आएँगे।"[135]

संध्या को पाँच बजे बालिका-विद्यालय के विशाल प्रांगण में संस्थापक-दिवस समारोह एक वरिष्ठ अधिकारी महोदय के सभापतित्व में आरंभ हुआ। उपस्थित सज्जनों की संख्या इतनी

अधिक थी कि बैठने का स्थान अपर्याप्त हो गया था। सम्मानित अतिथि, अधिकारी-गण, विद्यालय की प्रबंध समिति के सदस्य, अभिभावकों के अतिरिक्त वे मनचले नौजवाने-वतन भी आज इस चारदीवारी के अंदर आ गए थे, जो अक्सर लड़कियों के रिक्शों के पीछे-पीछे साइकिल पर इस विद्यालय के फाटक तक आते हैं और लड़कियों के अंदर चले जाने पर बड़ी हसरत से दरो-दीवार पर निगाह डालते हुए लौट जाते हैं। उनकी प्यासी निगाहें बड़ी व्यस्तता से जाँच-पड़ताल में लगी हुई थीं। कैसे सब कुछ देख लें और आँखों में ही नहीं, दिल में बसा लें। फिल्मी दुनिया की उपज भारत के ये मजनूँ, जो सिनेमा के अभिनेताओं को अपना आदर्श पुरुष माने होते हैं, अभिनेत्रियों के फोटो अपने चारों तरफ सजाते हैं। फिल्म की किसी-न-किसी धुन के सहारे साँस लेते हैं। भारत को किसी गड्ढे में ले जाकर डालेंगे! न जाने क्यों देश के नेता इस ओर से आँखें फेरे हुए हैं। ऐसे नौजवान, जो काफी संख्या में इस उत्सव में प्रवेश पा रहे थे, जो कि छात्रा के भाई से या किसी पड़ोस की लड़की से माँग-जाँच कर प्रवेश पत्र पा गए थे, किसी एक जगह चैन न पा रहे थे। न जाने वे क्या और किसे देखना चाहते थे कि उन्हें अपनी जगह से संतोष ही न होता। कभी पीछे के लोगों को ठेलकर आगे बढ़ते होते, कभी किसी बैठने वाले के सामने ही खड़े हो जाते, कभी किसी कुर्सी या बेंच पर चढ़कर बड़ी दूर तक न जाने क्या देखते होते। जगह की तंगी इन महाशयों के कारण कोढ़ में खाज हो रही थी।

एक चौताले की प्रार्थना के साथ उत्सव प्रारंभ हुआ।

"परब्रह्म परमेश्वर पुरुषोत्तम परमानन्द।

आनंद-कंद नंद नंदन यशोदा नंद श्री गोविन्द।"[136]

छोटी-बड़ी छात्राएँ थीं। बहुत अच्छी तरह मिलकर उन्होंने गाया। साथ में तबला और वायलिन बज रहा था। बड़ा अच्छा संगीत था। तबला और वायलिन अध्यापिकाएँ बजा रही थीं। लगता था उन्होंने ही खूब अभ्यास करवाया था। प्रार्थना जम गई। वातावरण निर्मित हो गया। तालियों की गड़गड़ाहट ने रही-सही कसर पूरी कर दी।

अन्य कार्यक्रम हुए। नन्ही आभा ने अंग्रेजी की कविता 'होम दे ब्राट हर बार वारियर डेड'- बड़े निर्भीक होकर सुनाई। गुड़िया-सा उसका मुँह ऐसी तेजी से और इतना स्पष्ट ध्वनि करता। उस पर भाव आते और जाते। अपने हाथों को हिलाकर अपनी काली-काली आँखों को घुमाकर

वह ऐसा भाव प्रदर्शन कर रही थी कि लोग आश्चर्यान्वित मन होकर उसे देख रहे थे। उसने कविता खत्म की तो तालियों का समुद्र गरज उठा। पंडित चंद्रभाल की आँखों में हर्षातिरेक से आँसू आ गए।

हिन्दी की भी दो कविताएँ पढ़ी गईं। फिर वह लोकनृत्य हुआ, जिसमें प्रभा भाग ले रही थी। वह मुख्य नर्तकी तो न थी किन्तु; उसका नृत्य ही सबसे अधिक आकर्षक था। पंडित जी को पहले ख्याल हुआ : संभव है- अपने मोह के कारण उन्हें ऐसा लग रहा हो किन्तु; जब पास में बैठे हुए दो-चार अनजान व्यक्तियों ने प्रभा की ओर इशारा करके कहा- "इस लड़की में कितनी ग्रेस है। इसका भाव-प्रदर्शन और पद-संचालन कितना दोष-रहित है" तो पंडित जी यह कहने का लोभ न संवरण कर सके कि- यह बच्ची आपकी ही है।...."आप बड़े भाग्यवान हैं"- एक सज्जन बोले- "जिसकी औलाद ढंग की निकल जाए तो समझिए लोक-परलोक सब बन गया। नालायक निकल जाए तो शांति से मौत भी नहीं आती।"[137] चंद्रमुखी ने भी एकांकी नाटक में अच्छा-खासा अभिनय किया।

संगीत का अंतिम कार्यक्रम छायानट का ख्याल था, जिसे इंटरमीडिएट की एक छात्रा कुमारी माधवी शिवानी ने गाया-

"कारे, जाने न दूँगी, एरी माई अपने बलम को,

नैनन में कर राखूँ पलकन मूँद-मूँद। कारे....

चमक बिजुरी मेहा बरसे, सदा रँगीले मोहम्मदशाह,

बरसे बदरा झूम-झूम।। कारे..."[138]

लड़की बड़ी ही तैयार गाने वाली थी। उसका गला भी अच्छा था। स्वर की पकड़ सच्ची और ताल का ज्ञान सही था। छायानट का सही रूप उसने उपस्थित कर दिया। अंत में विदुषी प्रिंसिपल महोदय ने, जो बिल्कुल मैना की तरह बोलती थीं, भाषण दिया। उनके भाषण का सारांश यही था कि अधिकारी महोदय यद्यपि उतने ही व्यस्त रहते हैं, जितने सृष्टि के रचयिता ब्रह्मा। फिर भी जो वह मृत्युलोक के प्राणियों के बीच में आ गए, तो यह उनकी विशुद्ध अनुकंपा थी। इससे स्पष्ट होता है कि उस समय लखनवी समाज में लोक संस्कृति का भी अत्यधिक प्रचलन था। इन संगीत समारोह से स्पष्ट हो जाता है कि गंगाप्रसाद मिश्र ने लखनवी जन-जीवन

के अंतर्गत उपन्यास में लोक संस्कृति का बहुत ही स्पष्ट वर्णन किया है।

'तस्वीरें और साये' उपन्यास में पंडित गंगाप्रसाद मिश्र ने श्री अमृतलाल नागरजी के विषय में वर्णन किया है, जिसमें श्री अमृतलाल नागर ने 'खानदानी पीलू' कहानी के संबंध में बोलते हुए कहते हैं कि इसमें कोई संदेह नहीं है कि लेखक ने अपनी इस कहानी में एक बड़ी ही महत्वपूर्ण समस्या की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है। फिल्मी संगीत की लोकप्रियता इतनी बढ़ गई है कि शास्त्रीय संगीत को कोई नहीं पूछता। यह बात ठीक ही है। राजाओं और जमींदारों की समाप्ति से संगीतज्ञों को संरक्षण प्राप्त होना बंद हो गया, इससे भी इनकार नहीं किया जा सकता। परंतु संगीतज्ञ अथवा वे कलाकार, जो इनसे संरक्षण पाते थे, उन किसानों की अपेक्षा संख्या में बहुत कम है, जिनका शोषण करके यह उदारता का नाटक होता था। जिस कार्य से समाज के एक अपेक्षाकृत बड़े भाग का हित होता हो, वह उचित ही कहा जाएगा। फिर भी इस बात की ओर से मुँह नहीं फेरा जा सकता कि कलाकार संरक्षणहीन हो गए। उन्हें संरक्षण प्राप्त होना ही चाहिए। संरक्षण देने का कार्य चाहे सरकार करें और चाहे जनता। यदि शास्त्रीय-संगीत जनता में लोकप्रिय नहीं रहता, तो उसका सरकार द्वारा संरक्षण उसी प्रकार का होगा जैसे ऐतिहासिक इमारतों की सुरक्षा का प्रबंध सरकार करती है। नित्य-प्रति के जीवन में जिस वस्तु की उपयोगिता नहीं रहती, वह कहीं एक कोने में पड़ी-पड़ी नष्ट ही हो जाती है। उसकी रक्षा नहीं हो पाती। हमारे शास्त्रीय संगीत में यही दोष आ गया है। वह जनता का संगीत नहीं रह गया है। वह कतिपय बुद्धिजीवियों अथवा राजा-महाराजाओं के मनोरंजन की ही वस्तु रह गई है। इसमें वह मोहकता और आकर्षण कहाँ है कि जो भी सुने, सिर धुनता ही रह जाए। हमारे कलाकार उस आदर्श से गिर गए, जब उनका संगीत वन से हिरणों को बुलाने की सामर्थ्य रखता था। शास्त्रीय-संगीत एक प्रकार की गले की जिमनास्टिक और तबले वाले से झड़प अथवा उखाड़-पछाड़ तक ही सीमित रह गया है। रस और माधुर्य की उसमें इतनी कमी हो गई है कि वह जनता को अपनी ओर आकर्षित नहीं कर पा रहा है। यदि हमारे कलाकार इस ओर ध्यान नहीं देंगे तो जनता उनमें कभी कोई रुचि नहीं ले सकेगी। मेरे कहने का तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि इसलिए हमारे शास्त्रीय संगीतकार सहानुभूति के पात्र नहीं हैं। संगीत की परंपरा की रक्षा करने वाले इन कलाकारों को रोटी, कपड़े की चिंता से तो मुक्ति मिलनी ही चाहिए। लेखक ने हमारा ध्यान इस ओर आकर्षित किया है। इसलिए वह धन्यवाद का पात्र है। कहानी की मार्मिकता में संदेह नहीं है। उस्ताद खुर्शेद अली का अंतिम कथन तो हमारे हृदय को झकझोर कर ही रख देता

है। कहीं ऐसा न हो कि ये कलाकार अपना पेशा ही छोड़ने को विवश हो जाएँ और हमारी संगीत की परंपरा नष्ट हो जाए। यदि ऐसा हुआ तो इससे बढ़कर क्या दुर्भाग्य होगा! कहानी बड़ी प्रभाव उत्पादक है मुझे पसंद आई।[139]

'जहर चाँद का' उपन्यास में पंडित गंगाप्रसाद मिश्र लोक कलाओं से परिपूर्ण समाज का चित्रण किया है। इस समाज में लोग अपनी सुविधानुसार विभिन्न कला द्वारा कार्य करके लोक-संस्कृति से परिपूर्ण अपना जीवन व्यतीत करते हैं। इस उपन्यास का एक प्रमुख पात्र बांके बिहारी पर अचानक गाज सी-गिरी। इससे केवल वही नहीं उनके परिवार के सभी सदस्य निर्जीव से हो गए। उसकी नौकरी चली गई। यह वह अलादीन का चिराग था, जिससे न केवल उनको और उनके बच्चों को रोटी कपड़ा मिलता था, उसी की बदौलत भाले-मानसों में उनकी गिनती होती थी। नौकरी चीज ही ऐसी है। इसकी सही कीमत इसके मिलने से पहले या चले जाने के बाद ही मालूम होती है। जिसकी नौकरी लगी हुई होती है, वह इसकी असली कीमत भूल जाता है।

मास्टर बाँके बिहारी का ऐसा कोई खास दोष न था। यह भी न था कि नौकरी लगी हुई थी तो वह भगवान को भूले हुए थे या जमीन पर पैर न रखते थे। दुनिया को देखते हुए वह कोई ऐसे खास कामचोर भी न थे कि छाँटकर उन्हीं को गोली मार दी जाती। सच बात यह थी कि वे स्थानीय राजनीति का शिकार हो गए थे। उनके पिता लाला रामबिहारी का पास-पड़ोस में, खासतौर से कायस्थ भाइयों में अच्छा प्रभाव था। पिछले ब्लाक प्रमुख के चुनाव में राम नारायण वर्मा को पूरा विश्वास था कि लालाजी उनकी मदद करेंगे। उन्होंने बाँके बिहारी को लाला रामबिहारी के क्षेत्रीय प्रभाव से प्रभावित होकर रखा था, वर्ना बाँके बिहारी के ऐसा कोई सुरखाब का पर लगा हुआ न था। रामबिहारी को चाहिए था कि इस बात को समझते। परन्तु वह होश में ही नहीं रहे। चुनाव में दूसरे उम्मीदवार मुंशी घिर्राऊ लाल खड़े हो गए और लाला रामबिहारी ने उनका ढोल पीटना शुरू कर दिया। वर्मा जी ने यह सुना तो उन्हें बहुत तनाव आया। उन्होंने यह तो अपनी शान के खिलाफ समझा ही कि वह रामबिहारी ऐसे फटीचर के दरवाजे इस काम के लिए जाएँ। परन्तु लाला को उन्होंने बुलवाया भी नहीं। अपने एक दो विश्वस्त आदमियों से उन्होंने रामबिहारी को कहलाया कि उन्हें मुंशीजी के बजाय उनकी मदद करनी चाहिए। लाला ने यह बात सुनी-अनसुनी कर दी। उनका और मुंशी का संबंध राजनीतिक से ज्यादा व्यक्तिगत था। जाति भाई होने के साथ वह उनके हमप्याला-हमनेवाला भी थे। मुंशीजी और लालाजी पुराने

साथी थे। शायरी का शौक था। अक्सर बैठकर चर्चा किया करते थे। उसी से मयनोसी की प्रेरणा प्राप्त हुई। दोनों इस संबंध में अत्यंत सतर्क थे कि वह किसी भी तरह पियक्कड़ न बनने पायें। कमरे के अंदर रात गहराने पर बड़े करीने से वे दोनों मय, मयकदा, मयखाना की चर्चा में डूबे हुए धीरे-धीरे शराब चुस्कियाँ लेते रहते थे। मुंशी घिर्राऊ लाल फरमाते -

"पानी किसी हसीं की नजर से गुजार दो,

नुस्खा है यह भी एक कशीदे शराब का।[140]

जवाब में लाला रामबिहारी अर्ज करते -

ताकत हुश्न ज़र क्या इसमें नशा नहीं है,

फिर मेरे पानी में क्या खराबी है।[141]

वादा होशी से रोकने वाले आदमी फितरतन शराबी हैं। बैठक कभी मुंशीजी के यहाँ होती और कभी लालाजी के यहाँ। इन दो के अलावा तीसरा कभी इस बैठक में शामिल न हो पाया था। पीने में हमेशा दोनों ने इस बात का ख्याल रखा था कि न होंश खोने पाएँ, न कदम डगमगाएँ।

गंगाप्रसाद मिश्र ने अपने कथा साहित्य में जिस लोक संस्कृति को प्रस्तुत किया है, वह लखनऊ की प्राचीन संस्कृति ही नहीं बल्कि भारत की प्राचीन संस्कृति पर आधारित है। इसका प्रयोग ऋग्वेद में भी देखने को मिलता है। इस लखनवी संस्कृति में 'लोक' समाज के विश्वासों, परंपराओं, रीति रिवाजों तथा क्रिया कलापों का विस्तृत उल्लेख मिलता है। पंडित गंगाप्रसाद मिश्र द्वारा प्रस्तुत लोकसंस्कृति में लखनऊ के जन-जीवन के प्रचलित सभी उत्सव, त्यौहार, रीति -रिवाज, मेले, लोकजीवन की कलाएँ एवं धार्मिक आस्था आदि की स्पष्ट झलक देखने को मिलती है।

पंडित गंगाप्रसाद मिश्र ने अपने कथा साहित्य में प्रस्तुत लोकसंस्कृति के माध्यम से स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त किया है कि सामूहिक रूप से मनाया जाने वाले सांस्कृतिक समारोह एवं पर्वों की अपनी एक अलग परंपरा रही है। यदि ये परंपराएँ लोकजीवन से अलग कर दी जाएं तो जीवन में वो उत्साह तथा उमंग देखने को नहीं मिलेगी बल्कि; एक एकाकीपन दिखाई देगा। मिश्रजी के द्वारा रचित पात्र जब सामाजिक परंपराओं एवं रीति-रिवाजों का अनुसरण करते हैं

तो यह ज्ञात होता है कि वे स्वयं आनंदित होकर संतुष्टि का अनुभव कर रहे हैं।

पंडित गंगाप्रसाद मिश्र ने लोक-संस्कृति के उज्जवल पक्ष के साथ-साथ लोकमान्यताओं की संकीर्ण विचारधारा को भी अपने कथा-साहित्य में प्रस्तुत किया है। सफल जीवन हेतु संस्कारों की कितनी आवश्यकता है, यह हमें लोक-संस्कृति में स्पष्ट रूप से देखने को मिलता है। मिश्र जी ने लोक-संस्कृति में व्याप्त आडंबरों एवं अंधविश्वासों को भी अपने कथा साहित्य में अभिव्यक्त किया है। उन्होंने लोक-संस्कृति में व्याप्त रूढ़िवादी मान्यताओं को आधुनिक समाज से संबंध करते हुए दिखाया है। उनके सामाजिक पृष्ठभूमि के कथा-साहित्य से यह ज्ञात होता है कि प्राचीन समाज में रूढ़िवादी मान्यताओं का अधिक प्रचलन था।

इस प्रकार मिश्रजी ने अपने कथा-साहित्य में लोककलाओं के पक्ष को आर्थिक आधार देते हुए उनकी कलाओं को एक सम्मानजनक स्थान देने का प्रयास किया है। चित्रकला, काष्ठकला, मूर्तिकला, मिट्टी के बर्तन बनाना आदि के नमूने मिश्रजी के कथा-साहित्य में सहज रूप से दिखाई देते हैं। मिश्रजी लोक-संस्कृति को धरोहर मानकर उसके संरक्षक तथा समर्थक के रूप में पाठकों के सामने आते हैं।

(२.) पूँजीवादी संस्कृति :

बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध तक उपनिवेशों के शोषण से प्राप्त सुखभोग और ऐश्वर्य का अनावरण-रूप मानवीय समाज में स्पष्टत: देखने को मिलता है। पूँजीवादी दुनिया के एकाधिकार, धनवानों और पेशेवर राजनीतिक विचारधाराएँ मानवीय समाज पर शोषण की अमिट छाप छोड़ती दिखाई देती हैं।

पूँजीवाद एक आर्थिक व्यवस्था है। इस व्यवस्था में सरकार की बाजार को नियंत्रित करने में कोई खास सक्रिय भूमिका नहीं होती है। पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में उत्पादन या निर्माण के साधन मुख्य रूप से निजी स्वामित्व में होते हैं। जिन व्यक्तियों के पास निर्माण के साधन जैसे कारखाने, मिल, उद्योग आदि होते हैं, वे इनसे उत्पादित माल को बेचकर लाभ प्राप्त करते हैं। पूँजीवाद व्यक्तियों को अपने लाभ और आय का प्रबंधन करने का अवसर प्रदान करता है।

आर्थिक विकास के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए विश्व के अधिकतर देश लोकतंत्र और पूंजीवाद दोनों को अपनाने की कोशिश कर रहे हैं। इन दोनों को बाजार की होड़, राजनीतिक

बहुलवाद, जनकल्याण और आर्थिक स्थिरता के सही साधन के रूप में देखा जा रहा है। भारत में एक पूँजीवादी बाजार है। यहाँ ग्राहक और कंपनियाँ एक-दूसरे के साथ मुक्त बाजार में प्रतिस्पर्धा कर सकते हैं, ताकि ग्राहकों को वस्तुओं के लिए सर्वोत्तम सेवाएँ और सर्वोत्तम मूल्य मिल सके। हालाँकि हमारे देश के पूँजीवाद में समाजवाद की कुछ विशेषताएं भी हैं, जहाँ सरकार स्वास्थ्य सेवाओं और बीमा के लिए कार्यक्रम चलाती है। भारत को पूँजीवाद और समाजवाद, दोनों के अच्छे सिद्धांतों के मिश्रण वाली मिश्रित अर्थव्यवस्था माना जा सकता है।

राष्ट्रीयकरण की योजनाओं से नियंत्रण की मात्रा में वृद्धि हुई और स्वतंत्र अर्थव्यवस्था को जबर्दस्त धक्का लगा। प्रत्येक राष्ट्र के सम्मुख यह समस्या रहती है, कि वह अपनी आर्थिक परिस्थितियों के अनुसार व्यवस्थाएँ करे। व्यवस्था के निर्णय, उपलब्ध श्रमशक्ति और आर्थिक स्रोतों पर निर्भर करते हैं। राज्य प्रतिनिधियों और योजनाविदों के सम्मुख उत्पादन के रूप, मात्रा और तरीके आदि के प्रश्न रहते हैं। समाजवादी-व्यवस्था के अंतर्गत इसके लिए सरकारों और सरकार द्वारा नियुक्त योजना समितियों द्वारा निर्णय किए जाते हैं। पूँजीवादी व्यवस्था के अंतर्गत एक व्यक्ति या समूह को अपने आर्थिक नियोजन का स्वतंत्र अधिकार रहता है। विज्ञान और मशीनीकरण का सहारा लेकर पूँजीवादी विचारधारा ने मानवीय नैतिक मूल्यों की अवहेलना की। कार्लमार्क्स ने समाज के वर्गीकरण की तीन श्रेणियाँ स्वीकार की। पहला शासक वर्ग, दूसरा शोषित वर्ग, तथा इन दोनों के मध्य से निकला हुआ तीसरा मध्य वर्ग। इस प्रकार समाज तीन वर्गों में बँट गया। सामन्ती संस्कृति के बाद समाज में पूँजीवादी संस्कृति के दर्शन होते हैं।

कार्लमार्क्स ने जिस शोषक वर्ग का उल्लेख किया है, उसे ही समाज में उच्चवर्ग अथवा पूँजीपति वर्ग के रूप में जाना जाता है। इसी पूँजीपति-अर्थव्यवस्था में पूँजीवादी ही सर्वोच्च सत्ताधारी होता है। जहाँ सत्ता एक वर्ग के हाथ में चली जाती है, वह नियंत्रणहीन हो जाती है। यदि धन का उपयोग ठीक प्रकार से किया जाए तो वह मनुष्य के लिए वरदान है। यह गलत उपयोग किया जाता है तो वह अभिशाप होता है। परन्तु पूँजीपति लोग जनतंत्र एवं अर्थतंत्र को अपने नियंत्रण में लिए हुए हैं। यही कारण है कि पूँजीपति वर्ग की छाप सर्वत्र दिखाई देती है।

रहन-सहन, सोच-विचार तथा मूल्यों एवं व्यवहार से पश्चिमी सभ्यता में रंगे हुए ये लोग पश्चिमी शिक्षा प्राप्त होते हैं। उनको सदैव अपने वर्ग की उच्चता का ध्यान रहता है। अपने उच्च आर्थिक सामर्थ्य के फलस्वरुप वे देश के महत्वपूर्ण आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक मामलों में शक्तिशाली नियंत्रण रखते हैं। समाज में फैशन तथा सांस्कृतिक उच्श्रृखलताएँ इसी

वर्ग के सदस्यों की देन कही जा सकती है।

इससे स्पष्ट होता है कि धन की प्रचुरता और उपभोक्तावाद ने पूँजीवादी संस्कृति को जन्म दिया। इन पूँजीवादियों के जीवनशैली संबंधी विचार अन्य वर्गों से मेल नहीं खाते हैं। डॉ. राजेश्वर सक्सेना ने पूँजीवादी व्यवस्था के संदर्भ में अपनी पुस्तक 'इतिहास, विचारधारा और साहित्य' में लिखा है- "सभी जानते हैं कि पूँजीवादी व्यवस्था के विकासमान गुणों में बिम्बवाद, प्रतीकवाद पैदा हुए, लेकिन पूँजीवाद की ह्रासशील संस्कृति में एब्सर्ड-बोध की ईजाद हुई है। आधुनिकता बोध की अभिव्यक्ति उत्तेजनाप्रद है, एब्सर्ड है। डार्विन और फ्रायड की प्रकृतिवादी और प्राणी मनोवैज्ञानिक दुनिया के सांस्कृतिक, नैतिक आधार नष्ट हो चुके हैं।"[142] इससे स्पष्ट होता है कि पूँजीवादी संस्कृति में मूल्यों एवं नैतिकता में गिरावट आ रही है। यही कारण है कि पूँजीवादी लोगों की जीवन शैली अन्य लोगों से मेल नहीं खाती। पूँजीवादी संस्कृति की अपनी कुछ अलग विशेषताएँ हैं, जो उसे अन्य संस्कृतियों से अलग करती है।

पंडित गंगाप्रसाद मिश्र के कथा साहित्य में पूँजीवादी संस्कृति के दर्शन होते हैं। इनके कथासाहित्य के अंतर्गत 'विराग' उपन्यास में ऐसे बहुत से दृश्य देखने को मिलते हैं, जिनमें पूँजीवादी संस्कृति परिलक्षित होती है। आधुनिक युग में लोगों की धार्मिक आस्था में कमी आई है। इस संबंध में पंडित गंगाप्रसाद मिश्र जी ने विराग के माध्यम से लिखते हैं- "जिन्होंने उससे ऐश करने के लिए लाखों की दौलत पाई है, वे उसको ऋद्धि-सिद्धि दायक कहें। अनगिनत पाप कर्म करने पर, नित्य नए छल-छंद रचने पर, गरीबों और असहायों को व्यर्थ सताने पर, जिनकी दौलत की वृद्धि होती जाती है, वे उसके गणिका और अजामिल को तारने की कथाओं को सच्ची घटनाएँ समझें। पर जिनको होम करने के बदले में हाथ जलने का प्रसाद मिलता है, वे कैसे उसके गुण गावे? उनका ईश्वर की प्रशंसा करना आडंबर और लोक-दिखावा से खाली नहीं हो सकता।"[143]

इस उपन्यास में पंडित गंगाप्रसाद मिश्र ने पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव को भी उजागर किया है। उच्चवर्गीय समाज में रईसों के गुण का वर्णन इस प्रकार है- "यह तदबीर थी विराग के संरक्षक चाचा की और सबकी भाँति संपत्ति के गुण को सर्वश्रेष्ठ गुण समझने की। इस प्रकार धन की कसौटी पर कसकर विराग के लिए उसके चाचा ने पुण्यस्थान काशी में एक वर खोज निकाला। लड़के के बारे में सुना गया कि उसका चरित्र कुछ ठीक नहीं है। पर विराग के चाचा ने

उसे रईसों का एक आवश्यक गुण बता कर टाल दिया।"[144] यहाँ मिश्रजी ने समाज की कड़वी सच्चाई का उजागर किया है। वहाँ विराग अपने ससुराल में आकर पति को ठीक वैसा ही पाया, जैसा कि उसके बारे में सुन रखा था। अपने पिता की कमाई हुई संपत्ति को वह दोनों हाथों से खूब होम करता था। अनगिनत लुच्चे और तमाम वेश्याएँ उसकी बदौलत गुलछर्रे उड़ाते थे। भाई-भाभियों के समझाने पर हिस्सा बाँट कर देने की धमकी देता था। महीनों विराग से उससे देखा-देखी न होती थी। नतीजा इसका वही हुआ, जिसको सबको डर था। वह एक बड़े ही विषम-रोग से ग्रसित होकर चला बसा और विराग सोलह वर्ष की उम्र में एक बच्चा गोद में लिए हुए विधवा हो गई।

'विराग' उपन्यास में गंगाप्रसाद मिश्रजी ने पूँजीवादी संस्कृति के अन्तर्गत मिल-मजदूरों पर किए जा रहे मिल-मालिकों के शोषण का वर्णन किया है। उपन्यास का प्रमुख पात्र 'अचल' ने मिल-मजदूरों के पास जाकर उनकी कोठरियों का निरीक्षण किया। सैकड़ों से वह मिला और उनमें जो उसे कुछ समझदार और अपनी परिस्थिति से असंतुष्ट दिखाई दिए, उन्हें अपने स्थान पर बुलाया। ऐसे लोगों के आने पर वह उनकी वास्तविक स्थिति का ज्ञान कराता था और कहत- "देखो! तुम लोग हाथी के समान हो गए हो, जो आँख छोटी होने की वजह से अपने शरीर के आकर को नहीं जान पाता। अपनी शक्ति का अंदाजा नहीं लगा पाता। तुम लोगों को यह बात जाननी चाहिए कि संसार में तुम्हारी ही संख्या सबसे अधिक है। आखिर यह मिल-मालिक गिनती में है कितने? बहुत थोड़े। फिर तुम उनका अत्याचार क्यों चाहते हो? क्या तुम देखते नहीं कि वे किस तरह ठाट-बाट से रहते हैं। उनके यहाँ के कुत्ते जो भोजन करते हैं, वह तुम्हें अपनी जिंदगी में भी कभी प्राप्त नहीं होता।....उनके पास खाने की बढ़िया-से-बढ़िया सामग्री प्रस्तुत रहती है। अच्छे-से-अच्छे कपड़ों के ढेर-के-ढेर लगे रहते हैं। वे एक कदम पैदल चलना नहीं जानते। तीन-तीन मोटरें एक-एक के पास रहती है। यह सब किसकी बदौलत है? तुम्हारी ही। तुम्हीं अपना खून का पसीना बना-बनाकर उनका मौज करने का सामान जुटाते हो। और खुद भूखों मरते हो। तुम क्यों इसके विरुद्ध नहीं लड़ते हो? दूसरे देशों में यही हुआ है। वहाँ के मजदूरों ने मिल-मालिकों को उन्हें आराम से जिंदगी बसर करने लायक मजदूरी देने पर बाध्य किया है। तुम चाहो तो तुम भी ऐसा कर सकते हो।....तुम सब मजदूर एक हो जाओ। मिल-मालिकों को ठीक-ठीक बता दो कि तुम कितनी मजदूरी पर काम कर सकोगे। कितनी देर काम कर सकोगे। अपने साथ कैसा बर्ताव चाहोगे। अगर वह तुम्हारी माँगें पूरी तौर से मंजूर करें और उसके

अनुसार कार्य करें, तो ठीक है। वर्ना मिल में काम करना बंद कर दो।....तुम देखोगे कि इस तरह तुम्हारी बात उनकी समझ में जल्दी आवेगी। उनका यह सब ठाठ बाट है तो आखिर मिल ही की बदौलत। अगर तुम दो रोज में भूखे मरेने लगोगे तो आखिर बीस दिन बाद उनके लिए भी तो यही नौबत आए आवेगी।"[145] यहाँ मिश्रजी ने अपने पात्रों के द्वारा समाज में मौजूद वैमनस्य की विचारधारा का वर्णन किया है।

पंडित गंगाप्रसाद मिश्र ने 'तस्वीरें और साये' उपन्यास के द्वारा पूँजीवादी व्यवस्था में रिश्तों के बनने-बिगड़ने का वर्णन किया है। जिसमें चंद्रा की शादी हुई और उसमें वह सब कुछ हुआ, जो कान्यकुब्ज ब्राह्मणों के यहाँ विवाह में अनिवार्य रूप से हुआ करता है। थुक्का-फजीहत, झिड़कियाँ, धमकियाँ, वगैरह-वगैरह। वर महोदय के सगे-संबंधित तो कोई थे नहीं न पिता, न चाचा, न भाई। कुछ मिलने-जुलने वाले थे। दोस्त अहबाब, कुछ दूर दराज के रिश्तेदार भी थे। इन्हीं में एक सज्जन थे, जो किसी तरह लड़के के फूफा होते थे। नाम था विशेश्वर दयाल। बिल्कुल 'फायर ब्रांड', अगिया बैताल। गेहुँआ चमकदार रंग। भरा हुआ चेहरा। जिस पर एक जोड़ी मूँछें। बिच्छू के डंक की तरह उठी हुईं। सब मिलकर दर्शक के मन में एक अजीब आतंक की भावना उत्पन्न करते थे। यही सज्जन लड़के की ओर से अगुआ थे। बारात दरवाजे पर आते ही समधौरा हुआ। पंडित चंद्रभाल ने पैर छूकर विशेश्वर दयालजी को पाँच रुपए भेंट में दिए। पाँच रुपए देखते ही विशेश्वर दयाल यह बिल्कुल भूल गए कि उनके नाम के साथ 'दयाल' शब्द लगा हुआ है। वह कठोरता की मूर्ति बन गए। आपे से बाहर होकर बोले- "आपने मेरा अपमान किया है। आपने यही समझ कर तो मुझे पाँच रुपए टिकाए हैं कि ये कौन इनके सगे-संबंधी हैं। तो मैं आपको यह बतला दूँ कि यह लड़का मुझे अपने बाप से ज्यादा मानता है। मैं अपने आप इस ब्याह में नहीं चला आया हूँ। जब बबुआ की छः चिट्ठियाँ गई हैं और खुद बुलाने गया है, तब आया हूँ। मैं कोई परजा हूँ, जो पाँच रुपल्ली आपने मुझे टिका दिए।....अगर आपको इसी प्रकार का व्यवहार करना हो तो मुझे बतला दीजिए, मैं अपना बोरिया-बँधना बाँधकर चलता बनूँ। मैं भी इंसान हूँ। हर बार का अपमान मुझसे बर्दाश्त न होगा। कुछ कह बैठा तो बिना वजह बदमजगी होगी। मैं खरी बात कहने वाला आदमी हूँ। कोई मेरे साथ दुर्व्यवहार करे तो बर्दाश्त नहीं कर पाता हूँ। ईंट का जवाब पत्थर से देने की आदत पड़ गई है।"[146] यह कहकर उन्होंने पाँच रुपए हक्का-बक्का खड़े चंद्रभाल के हाथ में थमा दिए और चलने को हुए।

चंद्रभाल की ओर से द्वारचार के समय ब्राह्मणों के अतिरिक्त अन्य जातियों के लोग भी थे-

खत्री, ठाकुर, कायस्थ इत्यादि। यह तमाशा उन्हें अजीबो-गरीब लगा। बड़ा अहमक आदमी है यह मुँछाड़िया-उन लोगों ने आपस में कहा। जैसी इन की इज्जत, वैसे तुम्हारी। लेकिन यह बेवकूफ हँसी-खुशी के वक्त में कैसा मजा किरकिरा किए दे रहा है।

अपनी जवानी में चंद्रभाल भी बड़े तावबाज थे। पर जमाने की ठोकरों ने सब कोने झाड़ दिए थे। उनमें व्यवहार-कुशलता आ गई थी। बिगड़ी बात को बनाना जानते थे। उन्होंने फौरन विशेश्वर दयाल पांडे के पैर पकड़े और बड़ी आजिजी से बोले- "ऐसा नहीं है पांडेजी! कि हमने पाँच रुपए इसलिए नहीं दिए हैं कि हम आपका अपमान करना चाहते हैं। सच बात यह है कि हमारी सामर्थ्य थोड़ी है। चाहते हुए भी अधिक सेवा करने की शक्ति नहीं है। यह हमारे बस का नहीं था कि हम आपके यहाँ संबंध करते। परंतु अब जब हो ही गया है तो आप हम पर कृपा करके इसको किसी तरह निभा दे।"[147]

पाण्डेयजी के बढ़ते हुए कदम रुक गए। लेकिन उन्होंने 'हाँ', 'नहीं', कुछ कहा नहीं। शायद वह कुछ सोचने-विचारने लगे थे। इसी समय चंद्रभाल के मित्र टंडन जी आगे बढ़ आए। उन्होंने भी हाथ जोड़कर पांडे जी से कहा- "महाराज! अब तो इनकी इज्जत आपकी इज्जत है। काम को आगे बढ़ाइए। आपका बड़प्पन इसी में है।"[148]

पाण्डेयजी बोले- "अच्छा! मैं आपकी बात मानी। लेकिन इनको भी तो चाहिए कि मेरी बात रख लें।"[149]

टंडनजी ने इशारा किया। चंद्रभाल ने दो रुपए मिलाकर सात रुपए पांडेजी को भेंट किए। किसी तरह गाड़ी आगे बढ़ी, लेकिन जिस तरह अड़ियल टट्टू अथवा गरियार बैल पैना लगाने पर दो-चार कदम आगे बढ़ता है, फिर अपनी रफ्तार पर आ जाता है या अड़ जाता है। उसी तरह पांडे जी कदम-कदम पर अड़ जाते और डेडलाक की स्थिति उत्पन्न कर देते। उल्टी-सीधी बातें कहकर कलेजा छेद देते। विवाह के दौरान न जाने कितनी बार चंद्रभाल ने इतना अपमानित अनुभव किया कि वह एकांत में जाकर रोए। उन्होंने उस घड़ी को धिक्कारा जब वे लड़की के पिता हुए, जिसके कारण उन्हें खून का घूँट पीना पड़ा।

पंडित गंगाप्रसाद मिश्र लिखते हैं कि दुनिया न जाने कहाँ-से-कहाँ जा रही थी। कान्यकुब्ज समाज अपनी उसी बेढंगी चाल पर चल रहा था। वह जमाना न जाने कब का लद चुका था, जब गेंहूँ सोलह सेर का और घी रुपए का सवा सेर बिकता था। हर चीज बहुत महँगी हो चुकी थी।

सब जातियों ने अपने रीति-रिवाजों में समय के अनुसार सुधार कर लिया था। किसी-किसी के यहाँ तो बारात जिस दिन आती, उसके दूसरे दिन ही विदा हो जाती। परन्तु अधिकांश के यहाँ तीसरे दिन सवेरे ही बारात की विदाई होती थी। कान्यकुब्ज समाज अब भी अपनी जगह पर अड़ा खड़ा था- "पहले दिन विवाह होता। दूसरे दिन भात। तीसरे दिन बड़हार (पक्का भोजन)। चौथे दिन विदा। अगर ज्यादा दकियानूसी हुए तो तीसरे दिन छोटी बड़हार, चौथे दिन बड़हार और पाँचवे दिन विदा।"[150] घर से बारात लेकर चलते समय लड़की वाले की सामर्थ्य अथवा परिस्थिति का कोई ख्याल नहीं। जो जितनी बड़ी बारात लेकर चल सकता, उतनी ही अपनी वाहवाही समझता। जनवासे पहुँचते ही तरह-तरह की फरमाइशें शुरू हो जातीं। किसी को मलाई चाहिए तो किसी को गाय का दूध चाहिए। पाँच दिन खिलाते-खिलाते और फरमाइशें पूरी करते-करते लड़की वाले का भुरकुस निकल जाता। इस पर भी कदम-कदम पर लड़की वाले को झिड़कियाँ सुननी पड़तीं। अपमान के घूँट पीने पड़ते। गोया लड़की का पिता होकर उसने कोई बहुत बड़ा गुनाह किया है।

चन्द्रा के विवाह में भी इसी तरह कदम-कदम पर मुसीबतें दरपेश होती रहीं। मौके बे-मौके पांडे जी अड़ जाते और चंद्रभाल के लिए एक मुश्किल खड़ी कर देते। राम-राम करके विदा का दिन आया। पांडेजी ने बारातियों की बरतौनी का जो चिट्ठा बनाकर भेजा, वह ऐसा था, जिसे कोई लखपति ही पूरा कर सकता था। किसी के नाम के आगे पच्चीस रुपए लिखे हुए थे, किसी के आगे पन्द्रह रुपए और किसी के आगे दस। यहाँ तक कि नौकरों की भी विदाई पाँच रुपए से कम नहीं दिखलाई हुई थी। चिट्ठा देखकर बेचारे चंद्रभाल के हाथ-पैर फूल गए। इसे तो वह अपने आपको बेचकर भी पूरा नहीं कर सकते थे।

टंडन जी ने समझाया- "भैया घबड़ाने की बात क्या है। चलो, पांडेजी से बात करेंगे। उनसे रोएँ-गाएँगे। अपनी हालत बयान करेंगे। इंसान हैं। आखिर कहाँ तक नहीं पसीजेंगे। सब मोर्चे संभाल लिए हैं। अब यह आखरी मोर्चा है। इसे भी निपटा दो। चलो, फतेह हैं।"[151]

चंद्रभाल और टंडन जी को देखते ही पांडेजी का पारा चढ़ गया। जैसे ही इन लोगों ने अपनी बात कही। वह बिगड़कर बोले- "आप लोगों ने तो कसम खा ली है कि जो बात मैं कहूँ उसे काट दें।"[152]

टंडनजी ने बहुत आजिजी से अपनी बात कही। चंद्रभाल की दयनीय दशा का पूरा नक्शा

खींच दिया। पांडेजी को उदारता का अवतार बतलाया। तब कहीं घंटे भर बाद निशाने पर तीर लगा। मान्यों को चार रुपए और अन्य बारातियों को दो रुपए दिए जाएँ- यह तय हुआ।

चूँकि चंद्रभाल यह देख आए थे कि वर रत्नाकर के यहाँ बिजली थी। उन्होंने जमाना देखते हुए कुछ रोजमर्रा की काम की चीजें दहेज में दी थीं- बिजली का पंखा, हीटर, इस्त्री। इसके अलावा उन्होंने एक टी-सेट और चंद्रा के लिए सिलाई की मशीन भी दी थी।

विवाह चार हजार का तय हुआ था। पांडेजी ने चंद्रभाल से हिसाब से माँगा कि कितना नगद और कितने का सामान दिया गया है। चंद्रभाल ने सब हिसाब लिखकर दिया। सूची में बिजली का सामान, मशीन देखकर पांडे जी बोले- "यह लोहा-लंगड़ आपसे किसने माँगा था? यह सब हमें नहीं चाहिए।"[153] टी-सेट के लिए भी उन्होंने कहा- "यह हमारे लिए बेकार है। एक तो हमारे यहाँ चाय पीने का रिवाज नहीं है। दूसरे हम लोग चीनी की प्यालियों का इस्तेमाल नहीं करते हैं। यह सब सामान आप हटा दीजिए और हमें नगद दे दीजिए। हमारा पैसा बहुत खर्च हो गया है। यह सामान हमारे किस काम का आएगा?"[154]

चंद्रभाल खत्रियों के मोहल्ले में रह रहे थे। मोहल्ले के लोग काम-काज और सहायता के लिए बराबर उपस्थित रहते थे। बीसवीं सदी में बिजली के सामान को कोई लोहा-लंगड़ कहेगा और चीनी की प्यालियों को त्याज्य समझेगा- यह अगर उन लोगों ने अपने कानों से न सुना होता, तो कभी विश्वास न करते।

यह सामान लगभग पाँच सौ का था। चंद्रभाल के लिए यह एक नई समस्या खड़ी हो गई। अब वह पाँच सौ रुपए कहाँ से लाएँ, जो पांडे जी की माँग पूरी कर सके। टंडन जी ने एड़ी-चोटी का जोर लगा दिया। अपनी सारी खुशामद करने की कला खर्च कर दी, लेकिन पांडेजी टस से मस न हुए। कोई और तरीका न देखकर चंद्रभाल ने टंडनजी से कहा- "भैये! अब और तो कुछ समझ में आता नहीं है। इसी सामान को कहीं गिरवीं रखकर रुपए ले लिए जाएँ और इनका गड्ढा भर दिया जाए। अब कहीं और से रुपया मुझे मिल नहीं पाएगा। जितने लोगों से मिल सकने की गुंजाइश थी, सभी से माँग चुका हूँ।"[155]

टंडनजी बोले- "इस सामान को रखकर रुपए तुम्हें कौन देगा? और देगा भी तो कितना देगा? इसके अलावा एक और चीज है, जिसकी तरफ तुम्हारा ध्यान नहीं गया है। तुम सीधे आदमी हो। दाँव-पेंच की बात नहीं समझते हो। ऐसा नहीं है कि वे यह सामान नहीं चाहते हैं। वे सामान भी

चाहते हैं और सामान के अलावा पाँच सौ रुपए भी चाहते हैं। उनके दिमाग में यह चीज चल रही है कि जो सामान आप बाजार से खरीद लाए हैं, उसे अब आप बेंचने तो जाएँगे नहीं। शौक से लड़की और दामाद के लिए खरीदा हुआ सामान क्या घर में रखेंगे। इस तरह उन्हें सामान भी मिल जाएगा और रुपए भी। अगर आपने सामान रख लिया और उन्हें सिर्फ रुपए ही मिले तो वह जाहिरा तो आपसे कुछ न कहेंगे, पर खिसिया जाएँगे। नतीजा यह होगा कि वह कोई न कोई दोष निकाल कर झगड़ा करेंगे। फिर बदमजगी पैदा होगी। जहाँ तक रुपए की बात है, मैं कहीं से इंतजाम करके अभी लाता हूँ। तुम फिक्र न करो। यह सामान भी तुम उन्हीं को दे डालो और उन्हें यह समझने दो कि उनकी तरकीब काम कर गई और हम लोग इतने बेवकूफ हैं कि उनकी इस चाल को नहीं समझ पाए।"[156] यह कहकर टंडन जी रुपए का प्रबंध करने चले गए।

पंडित चंद्रभाल, टंडनजी की बुद्धिमत्ता, दूरदर्शिता और सबसे बढ़कर उनकी सहृदयता तथा सहानुभूति पर गौर करते रहे। वह उनके बहुत कृतज्ञ थे। विवाह में प्रत्येक अवसर पर वे उपस्थित रहे थे और हर मुसीबत में उनके आड़े आए थे।

टंडनजी ने रुपए लाकर दिए और पांडेजी की आखिरी जिद भी पूरी हुई। चंद्रा विदा हुई। सभी लोगों के हृदय भर आए। क्या रीति थी! अपनी पाली-पोसी लड़की सेवा करने के लिए सौंपी जा रही थी। वह भी बड़ी मिन्नतों के साथ। अभी लड़के वालों का बड़ा अहसान था, जो वह उसे बड़े नखरों के साथ कुबूल फर्मा रहे थे। अभी लड़की वालों का दिल धड़क रहा था- पता नहीं लड़की को कैसे रखें, उसके साथ कैसा व्यवहार करें? अन्नपूर्णा का हृदय बहुत बेचैन था। ऐसा लगता था जैसे कोई कलेजा निकाले लिए जा रहा था। चंद्रभाल भी रो रहे थे और सब बच्चे भी व्याकुल थे। अब बेटी पराई हो गई। बहिन पर उनका अधिकार नहीं था। करें क्या और कोई चारा भी तो नहीं था।

इससे स्पष्ट होता है कि पूँजीवादी व्यक्ति अपने नाम एवं धन के लालच में दहेज लेने से भी नहीं कतराता है। चाहे वह किसी गरीब के घर शादी करने गया हो या अमीर के घर। वह सिर्फ धन को एकत्रित करने के लिए नए-नए हथकंडे अपनाता है एवं नए तरीकों का इजाद करता है कि कैसे सामने वाले से रुपए निकाले जाएँ। पूँजीवादी संस्कृति में धर्म, लोक-लाज तथा संस्कार जैसे नैतिक मूल्य समाप्त होते दिखाई देते हैं। इन मूल्यों के क्षरण होने का पंडित गंगाप्रसाद मिश्र ने बड़ी सूक्ष्मता से वर्णन किया है।

पंडित गंगाप्रसाद मिश्र के कथा-साहित्य में "मुस्कान है कहाँ" उपन्यास पर भी पूँजीवादी संस्कृति का स्पष्ट प्रभाव दिखलाई पड़ता है। इस उपन्यास में उन्होंने धर्म के प्रति बदले हुए दृष्टिकोण को उजागर किया है। आज के वैज्ञानिक-युग में लोग अन्धविश्वास को नहीं मानते। पूँजीवादी व्यवस्था में व्यक्ति धन एकत्रित करना चाहता है। लेखक लखनवी संस्कृति का वर्णन करते हुए कहते है कि इस महानगर में विभिन्न धर्मों के मंदिर-मस्जिद-गिरिजाघर और गुरुद्वारे थे। इनमे बड़े पहुंचे हुए महात्मा, साधु, संत आचार्य कहलाने वाले महानुभाव थे, जिनके संबंध में लोगों को यह विश्वास था कि ईश्वर से उनका निकट का संबंध है। रेशमी वस्त्रों में लिपटे हुए संसार के समस्त सुखों को कभी जाहिर, कभी गुप्त रूप से लूटते हुए अपने भक्तों के कल्याण के लिए वे प्रवचन दिया करते थे- "यह संसार असत्य है, मिथ्या है, केवल ईश्वर सत्य है। अपने अहं को भूल जाओ। स्वार्थ का त्याग करो। परमार्थ में लगो। दूसरों के दुःख-दर्द को अपना दुःख-दर्द समझो। 'कबीरा सोई पीर है, जो जाने पर पीर, जो पर पीर न जानई सो काफिर बेपीर', 'पर हित सरिस धर्म नहि भाई। पर पीड़ा सम नहि अधमाई।' लाउडस्पीकर लगाकर चीख-चीखकर ये प्रवचन सुनाए जाते थे। जो चाहते थे- वे सुनते थे। जो न चाहते थे, उन्हें भी सुनना पड़ता था।"[157] इन प्रवचनों को सुनने सैकड़ों हजारों की संख्या में लोग आते थे। वक्ताओं को या तो भ्रम था या जानबूझकर वे यह नाटक करते थे कि हमने तो तुम्हें स्वर्ग की सीढ़ी दिखा दी। मोक्ष का मार्ग बता दिया। अब तुम जानो और तुम्हारा भाग्य जाने। अधिकांश श्रोताओं को यह भ्रम था कि प्रवचन सुनने मात्र से वे ईश्वर के अधिक निकट आते जा रहे हैं या बेहतर इंसान बनते जा रहे हैं। तात्पर्य यह है पूँजीवादी-संस्कृति में व्यक्ति को आत्मसंतुष्टि नहीं मिली और वह सुख की चाह में इधर-उधर भटक रहा है।

पंडित गंगाप्रसाद मिश्र ने अपने कथा-साहित्य और उपन्यास-साहित्य के अंतर्गत 'विराग, तस्वीरें और साये, जहर चाँद का, मुस्कान है कहाँ' एवं कहानी-साहित्य के अंतर्गत 'गंगालाभ, रिश्ते : दर्पण और आकृति के, खादी की चादर, मिहिरकुल, कल्पना की नारी, आडंबर, भाग्य-रेखा, महराजिन, मकान-मालिक, उत्तराधिकार की समस्या, कफन-खसोट' आदि में पूँजीवादी-संस्कृति का कुशलता से चित्रण किया है। पूँजीवादी लोगों द्वारा यदि कोई धार्मिक कार्य किया जाता है तो उसमें भी उनका स्वार्थ छिपा होता है। इन लोगों के खुलेपन एवं स्वतंत्र विचारों तथा पाश्चात्य अनुसरण को भी पंडित गंगाप्रसाद मिश्र ने समुचित रूप से अभिव्यक्त किया है। धन की लोलुपता के कारण मानवीय संबंधों में टूटन एवं अलगाव पूँजीवादी-संस्कृति में अधिक देखने

को मिलता है, जिसकी अभिव्यक्ति मिश्र जी के विभिन्न कथा साहित्य के अन्तर्गत भली-भाँति देखी जा सकती है।

पंडित गंगाप्रसाद मिश्र ने विभिन्न संस्कृतियों का स्पष्ट उल्लेख अपने कथा साहित्य में करके संस्कृति और समाज के प्रति अपनी विचारधारा को भली-भाँति उजागर किया है। इससे उनके सूक्ष्म एवं गहन ज्ञान की जानकारी प्राप्त मिलती है। मिश्र जी के कथा साहित्य की प्रसिद्धि और लोकप्रियता का एक कारण संभवतः उनके द्वारा अभिव्यक्त की गई समाज और संस्कृति की वह प्रवृत्ति भी है, जो वास्तविकता पर आधारित है। निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि पंडित गंगाप्रसाद मिश्र ने पूँजीवादी संस्कृति का चित्रण कर उसके गुण-दोष इस प्रकार व्यक्त किए हैं कि संस्कृति की संपूर्ण झलक स्पष्ट रूप से सामने आती है।

(३.) सामाजिक संस्कृति :

संस्कृति किसी समाज में गहराई तक व्याप्त गुणों के समग्र-स्वरूप का नाम है, जो उस समाज के सोचने, विचारने, कार्य करने के स्वरूप में अन्तर्निहित होता है। यह 'कृ' (करना) धातु से बना है। इस धातु से तीन शब्द बनते हैं 'प्रकृति' की मूल स्थिति। यह सुघड़ हो तो संस्कृत हो जाता है और जब यह बिगड़ जाता है तो 'विकृत' हो जाता है। संस्कृतियों के कुछ तत्व ऐसे होते हैं- चाहे वह धर्म-भावना हो, कला रुचि हो, साहित्य-परंपरा हो या भाषा हो, ये सब मिलने वाली विभिन्न संस्कृतियों में समान रूप से स्वीकृत हो जाते हैं। उन तत्वों का अजनबीपन जाता रहता है। वे इन सभी संस्कृतियों में खप जाते हैं। दूसरी ओर कुछ तत्व ऐसे भी होते हैं, जो कभी संस्कृतियों में समान रूप से स्वीकृत नहीं होते। वे विभिन्न संस्कृतियों में अलग अलग या तो बने रहते हैं या कालांतर में विलीन हो जाते हैं। व्यापक रूप से जो विभिन्न तत्व सभी संस्कृतियों में स्वीकृत हो जाते है, यदि उनके परिणाम और प्रकार अनुकूल हुए तो वे कुल मिलाकर एक अपेक्षाकृत नई सांस्कृतिक चेतना को रूप देते हैं, जिसे हम 'सामाजिक सांस्कृतिक-चेतना' कह सकते हैं। संस्कृतियों के समास होने पर कोई आवश्यक नहीं है कि समस्त संस्कृति (सामाजिक संस्कृति) में विभिन्न पूर्ववर्ती संस्कृतियों के अवशेषांश अलग-अलग नहीं दिखाई पड़ेंगे!

हमारा देश भारतवर्ष अनेक संस्कृतियों की मिलन-भूमि रहा है। आर्य-अनार्य (विशेषकर द्रविड़), हिन्दू-मुस्लिम, पौर्वात्य-पाश्चात्य प्रभृति अनेक संस्कृतियां यहां पनपीं और एक दूसरे को प्रभावित तथा अनुप्राणित करती रहीं। इनमें परस्पर किस प्रकार का मेज जोल, सामंजस्य -

समन्वय घटित हुआ है और किन विशेष तत्वों को लेकर मात्र संतुलन या समाहार की स्थिति बनी रही, इसका सम्यक् दिग्दर्शन हिन्दी साहित्य के इतिहास के पृष्ठों में अपेक्षित है किन्तु; खेद है कि अब तक जितने साहित्येतिहास ग्रंथ लिखे गये हैं, उनमें से किसी में भी इस दृष्टिकोण का सम्यक् अनुसरण नहीं हुआ है।

अतः यह संक्षिप्त-प्रयास, अपनी लघुता के कारण इस दिशा में संकेतक मात्र हो सकता है। हिन्दी साहित्य के इतिहास का आदिकाल देखें। आदिकाल में हम एक साथ अनेक साहित्यिक प्रवृत्तियों के दर्शन करते थे- बौद्ध, ब्रजयानी साहित्य परंपरा में लिखित अपभ्रंश व सिद्ध-साहित्य (सरहपा आदि), अपभ्रंश जैन प्रबंध काव्य, (स्वंयभू, पुष्पदंत्त आदि), अपभ्रंश विशुद्ध श्रृंगार काव्य (अब्दुल रहमान), अवधी प्रमाख्यान काव्य (मुल्ला दाउद), मैथिली कृष्ण काव्य (विद्यापति), राजस्थानी चारण काव्य, (चंदबरदाई, जगतिक), खड़ी बोली मनोरंजन काव्य (अमीर खुसरो आदि) इन अनेक प्रवृत्तियों में अनेक धार्मिक सांस्कृतिक चिंता-धाराओं के एक साथ अस्तित्व का परिचय तो मिलता है। भारतीय सामाजिक जीवन में यह काल विभिन्न संस्कृतियों के मिलन का काल कहा जा सकता है, समास का नहीं। संस्कृतियाँ एक-दूसरे से मिलीं, उनके बीच सह-अस्तित्व की स्थिति बनी रही, पूरी तरह न तो किसी एक संस्कृति में दूसरी का अध्याहार हुआ, न उनके तत्व मिलकर एक समस्त संस्कृति को जन्म दे सके। इस संक्रांति काल में संस्कृतियों का समास पूर्णतयः घटित हुआ नहीं दीखता है। केवल समस्त संस्कृति के निर्माण की पूर्व पीठिका प्रस्तुत दीखती है। बज्रयानी, बौद्ध, सिद्ध-साहित्य और अपभ्रंश, जैन-साहित्य एक साथ लिखे जा रहे थे। कभी-कभी तो एक ही भूभाग में! फिर भी इसमें दो विभिन्न सांस्कृतिक चेतनाएं व्यक्त हुईं हैं। सिद्ध-साहित्य में ईश्वर का स्थान शून्य ने लिया है। बज्रयानी सिद्धों ने धर्म के रूढ़ परंपरागत बाह्याडंबरों पर हठपूर्वक कुठाराघात भी किया है।

भारतीय संस्कृति प्रारम्भ से ही सामाजिक रही है और उसका विकास मन्द-गति से हुआ है। प्रारंभ में आर्य भारत में आए और यहाँ की अन्य जातियों से संपर्क हुआ। उस समन्वित-संस्कृति से ही जो संस्कृति उत्पन्न हुई वह भारत की मूल संस्कृति हुई। गुलाबराय ने भारतीय सामाजिक संस्कृति के महत्व को बताते हुए लिखा है- "भारतीय संस्कृति की सनातनता ने ही उसे इतने संघर्षों और सम्मिश्रण के बावजूद आज भी जीवंत, महिमाशालिनी बनाए रखा है और अनन्त-काल तक यह संस्कृति सनातन ही रहेगी। यह विश्व की प्राचीनतम ही नहीं श्रेष्ठतम् है, इसीलिए आज यूरोप और पश्चिमी देशों में भारतीय रीति-रिवाज, रहन-सहन, आचार-विचार के

प्रति आकर्षण एवं रुचि दिखाई पड़ती है।"[158]

संस्कृति सदैव चलायमान रहती है। जीवन और संस्कृति, दोनों साथ-साथ परिवर्तित होती रहती है क्योंकि; जीवन जड़ नहीं है। इसलिए संस्कृति भी जड़ और स्थिर नहीं है। सामाजिक-जीवन और आर्थिक-जीवन जिस प्रकार परिवर्तनशील है, उसी प्रकार सांस्कृतिक-जीवन में भी परिवर्तन होते रहते है। हमारे देश में बाहर से अनेक प्रकार की जातियाँ आयीं और वह अपने साथ वहाँ की बोली-भाषा एवं आचार-विचार लेकर आयीं तथा उन्होंने यहाँ के आचार-विचार भी स्वीकार किए। इस प्रकार दोनों के संस्पर्श से संस्कृतियों का मिला-जुला विकास हुआ और हमारे देश में सामाजिकता की जड़े मजबूत हुई। भारत देश की सामाजिक-संस्कृति पर दिनेशचन्द्र भारद्वाज ने अपने विचारों को स्पष्ट करते हुए लिखा है- "भारतीय संस्कृति विभिन्न जातियों तथा संस्कृतियों के मिश्रण का परिणाम है। आर्य अनार्य, ग्रीक, शक, हुए, यूनानी, पारसी तथा गोंड आदि विभिन्न जातियों के धर्म, विचारों तथा सांस्कृतिक परंपराओं के मिश्रण से इसका विकास हुआ है। विदेशी विचारधाराओं का यहाँ सहस्र स्वागत किया गया। भारतीय विद्वान, विभिन्न देशों की विचारधाराओं तथा विश्वासों का सदा आदर करते रह और आवश्यकतानुसार उनका समन्वय भी किया।"[159]

साहित्यकार समाज में मन-मस्तिष्क; दोनों रूपों में दिखाईं देता है। वह वर्तमान समाज की पीड़ा, उत्पीड़न और शोषण का भी चित्रण करता है। इसके साथ ही समाज में चलने वाले विचार, चिंतन और जीवन मूल्यों को भी चित्रित करता है। पंडित गंगाप्रसाद मिश्र ने अपने कथा साहित्य के माध्यम से समाज के चिंतन एवं मूल्यों को बड़ी सूक्ष्मता के साथ अनुभव करके अपने लिखे में दर्ज किया है। समाज में विभिन्न प्रकार के रुप देखने को मिलते है। उन्होंने इन सबको लेकर अनेकानेक संस्कृतियों का उल्लेख किया है। व्यक्ति और समाज एक दूसरे के पूरक होते हैं तथा परस्पर संबंध बनाकर चलने में ही समाज का कल्याण होता है। पंडित गंगाप्रसाद मिश्र ने इसी विचार धारा के अंतर्गत अपने कथा साहित्य में सामाजिक-संस्कृति का वर्णन किया है।

सामाजिक-संस्कृति के अंर्तगत उन्होंने भारत ही नहीं बल्कि; विदेशी संस्कृति को भी अपने कथा-साहित्य में अभिव्यक्त किया है। आपसी सौहार्द बढ़ाने हेतु लेखक ने संस्कृतियों के समन्वय द्वारा समाज के हित को सर्वोपरि रखा है। इनके अधिकांश कथा-साहित्य में सामाजिक-संस्कृति की झलक देखने को मिलती है।

पंडित गंगाप्रसाद मिश्र ने अपनी बहुमुखी प्रतिभा के आधार पर जीवन को एकरूप में बाँधने का प्रयास किया है। इन्होंने मध्यवर्गीय समाज के सांस्कृतिक जीवन को अपने कथा साहित्य में प्रस्तुत किया है। जैसे- 'पृथ्वी का स्वर्ग', 'अट्ठाइस तारीख', 'क्या उसकी भी दिवाली थी', 'पेशे पेशे की बात', 'मौत के मुँह में', तथा 'उल्लू', 'बांहों के घेरे : गर्दन की मजबूरियाँ', शीर्षक कहानियों में आर्थिक-विषमता से पीड़ित मानवता के दुःख-दर्द की सरिता प्रवाहित हुई है। इन कहानियों के द्वारा मध्य वर्ग के द्वार का पर्दा छलनी होकर गिर जाता है। और घर-परिवार का निहायत अंतरंग चित्र पाठकों के मानस-पटल पर उतर आता है। मिश्रजी ने- महीने-महीने की ऊँट के मुँह में जीरा जैसी ओछी तनख्वाह का रुखे-सूखे भोजन, बच्चों की शिक्षा, बीमारी आदि में तवे पर पानी की बूँद जैसा छन्न हो जाना। उधार के लिए लोगों के सामने गिड़गिड़ाना और आर्थिक तंगी में झल्लाना, चिल्लाना आदि मध्यवर्ग की कुछ दुखती रगों को स्पर्श कर लिया है कि पाठक उन्हें अपने घर की बात समझ कर उनसे तादात्म्य का अनुभव कर लेता है और काफी समय तक उन्हीं स्थितियों में डूबता-उतराता समाज और व्यवस्था के इस उत्पीड़न से लोहा लेने का संकल्प कर बैठता है। सुप्रसिद्ध कथाकार श्री भगवतीचरण वर्मा ने अपने उपन्यास 'थके पाँव' में लिखा है 'मध्यवर्ग का आदमी चीखता है, चिल्लाता है क्योंकि; वह कायर है, सिवा चीखने-चिल्लाने के उसके पास और कुछ नहीं। उस चीख और चिल्लाहट के अस्त्र से ही वह शासन कर सका है।"[160]

आर्थिक कठिनाइयों से त्रस्त मध्यवर्गीय-परिवार की गृह-कलह के बड़े यथार्थ, हृदयद्रावक और मार्मिक चित्र; पुष्कल परिणाम में मिश्रजी की इन कहानियों में देखने को मिलते हैं। 'बेबसी' शीर्षक कहानी तो आर्थिक-विवशता की अत्यंत संवेदनात्मक और मनोवैज्ञानिक दशा प्रस्तुत करती हैं। आर्थिक संघर्ष की भयावह कल्पना कौशल्या जैसी स्नेहशीला और पतिव्रता स्त्री को भयंकर उहापोह के उपरांत विवश कर देती है कि वह अपने प्राणों से प्यारे बच्चों और अपने सौभाग्य को छोड़कर अंधकार में विलीन हो जाए। मिश्रजी ने कैसर के भयानक दानव से त्रस्त मरीज की पीड़ा और जीवन-मरण के बीच चलने वाली कश्मकश को सह-अनुभूति के द्वारा मानो स्वयं जी लिया है। 'कफन-खसोट' कहानी आर्थिक-विवशता के हृदयद्रावक-परिणाम को कुछ अलग ढंग से चित्रित करती है। मुन्नन उस वर्ग का व्यक्ति हैं, जिसे हमारे समाज के तथाकथित कर्णधारों ने अस्पृश्य माना हुआ है। वह लावारिस लाशों को ठिकाने लगाने का काम करता है और उसी से अपनी रोजी चलाता है। उसने यह कार्य विवशता में स्वीकार किया था। उसका

एकमात्र लाड़ला पुत्र आर्थिक कठिनाइयों से जूझने के लिए परदेश में नौकरी कर लेता है। वहीं उसकी अचानक मृत्यु हो जाती है और जब मुन्नन उसकी खोज-खबर लेने वहाँ पहुँचता है तो उसकी लाश की दुर्गति की कथा उसे सुनने को मिलती है। तभी से वह लावारिस लाशों को ढोने का कार्य प्रारंभ कर देता है और विडंबना है कि वही उसकी रोजी का साधन बन जाता है। लाशों को ठिकाने लगाते समय जो निर्लिप्तता और कठोरता उसके मुख पर दिखती है- वह अंतर में गहरे छिपी वेदना को बाहर प्रकट नहीं होने देती।[161]

इसी प्रकार 'गंगालाभ' कहानी, जिसमें शव को गंगा के किनारे ले जाने वाले आत्मीय जनों की धर्म के नाम पर की जाने वाली लूट-खसोट का अत्यंत यथार्थपरक लेखा-जोखा प्रस्तुत किया गया है। श्मशान-घाट पर शव का अंतिम-संस्कार करवाने वाले गंगापुत्र, ब्राह्मण, नाई और मेहतर आदि शव ले जाने वाले लोगों को किस प्रकार परेशान करते हैं, बात-बात पर धर्म के नाम पर पैसा ऐंठते हैं और मुँह माँगा द्रव्य न पाने पर किस प्रकार बल-प्रयोग की धमकी देते हैं, उसका वर्णन मिश्रजी की कहानी-कला का सुंदर निदर्शन प्रस्तुत करता है। कहानी के प्रमुख पात्र केशव के विचार द्रष्टव्य है- "यदि यही क्रम चलता रहा तो कहीं दिवाला न निकल जाए। ये लोग तो मालूम होता है कि जैसे यह समझते हैं कि हर एक आदमी कारूँ का खजाना अपने साथ लेकर आता है। इन्हें तो दयालु होना चाहिए, एक-से-एक दुःखी इनकी शरण में इस आशा से आता है कि ये मृत आत्मा के शान्ति पाने में सहायक होंगे, ये तो धर्मराज हैं। फिर भी ये ऐसी निर्ममता कैसे बर्तते हैं।"[162]

'नास्तिक' कहानी में कुछ ऐसे आस्तिक लोगों का चित्रण है, जो समझते हैं कि धर्म उन्हीं की बदौलत अस्तित्व में है। आस्तिक और नास्तिक के समक्ष कितने पतित है, जो धर्म के नाम पर लड़ने वालों के लिए शहीद हो जाता है। इस कहानी में मिश्रजी ने स्पष्ट कर दिया है कि भगवान के भजन के नाम पर जोर-जोर से चिल्लाकर लोगों का सुखचैन समाप्त करना, मंदिर-मस्जिद बनवाकर उनकी बेकद्री करना और धर्म के नाम पर दूसरे मतावलंबियों की जान का प्यासा होना धर्म नहीं है, ऐसा धर्म दुनिया के सारे झगड़ो की जड़ है। इन सबसे ऊपर मानवता का धर्म है, जो नफरत की आग नहीं पैदा करता, वरन् दुखी-मानवता के जख्मों पर संवेदना का मरहम लगाता है। पुरुषोत्तम के शब्दों में मित्रजी ने धर्म के इन दो रूपों की हृदयस्पर्शी व्याख्या की है- "नया मंदिर स्थापित करने की आवश्यकता ही क्या है, तुम तो स्वयं कहते हो कि ईश्वर सर्वव्यापी है, तब तो उसका मंदिर प्रकृति का एक-एक कण हुआ, फिर गरीब देश का इतना

रुपया इसके लिए खर्च करने की आवश्यकता क्या है? अनगिनत शिवालय व मंदिर से देश में बने पड़े हैं, जिनका कोई पुरसांहाल नहीं है, उनमें मूर्तियों पर कुत्ते और सियारों के अलावा कोई जल नहीं चढ़ाता। न जाने कितने अपाहिज भूखों मर रहे हैं, इस देश में उनको अन्न देने वाला कोई नहीं है और इस दिमाग की ऐय्याशी पर अपना घर लुटा देने वालों की गणना नहीं की जा सकती है।"[163]

'उल्लू' शीर्षक कहानी में भी धर्म के नाम पर होने वाले सांप्रदायिक दंगों की झलक दिखाई गई है, जिसमें जाने कितने निरीह गरीबों को अपनी जान से हाथ धोना पड़ता है। शक्तिशाली अपनी किलेबंदी के कारण मौज करते हैं और नेपाली जैसे असंख्य की विशेषताओं से दूसरे लोगों को अपनी विश्वासपात्रता का पुरस्कार मृत्यु के रूप में मिलता है, साथ ही 'उल्लू' जैसी उपाधियों से विभूषित होना पड़ता है।

धर्म, संस्कृति और प्राचीन खोखली मान्यताओं के विनाशात्मक पक्ष ने आज मनुष्य को इस बात के लिए विवश कर दिया है कि यह इस जर्जर केंचुल को उतारकर नवीन सृजनात्मक रूप को धारण करे। इस बदलाव में कुछ सत् आया है, जो मानवता के उत्थान के लिए प्रतिबद्ध है और कुछ असत् भी घुस आया है, जिसके कारण मनुष्य अच्छा-बुरा पहचान पाने का अपना विवेक खो बैठा है। यह बदलाव पारिवारिक संबंधों, दाम्पत्य-जीवन और विशेष रूप से सेक्स संबंधी धारणाओं में आया है। मिश्रजी ने अपनी परवर्ती कहानियों में आधुनिक युग के बदलते मूल्यों, खंडित आदर्शों और संबंधों की पवित्रता के ह्रास को चित्रित किया है। यह कहानियाँ भी सोद्देश्य ही हैं, जिनमें युग के यथार्थ को ठीक उसी रूप में प्रस्तुत करके पाठक की भावनाओं को कुरेदा गया है और उसे यह सोचने पर विवश किया गया है कि अपने समाज से ऐसी कुप्रवृत्तियों को निकाल फेंकना ही श्रेयस्कर है। मिश्रजी के सातवें कहानी-संग्रह 'दूधपूत' (जिसे उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा 'प्रेमचंद पुरस्कार प्रदान किया गया है) की 'पोस्टमार्टम', 'छाती का पीपल', 'इंसान और शैतान' आदि कहानियों में बदलते हुए जीवन-मूल्यों का यथार्थ चित्रण किया गया है। 'पोस्टमार्टम' कहानी में एक ऐसे युवक की मनोव्यथा मुखर हुई है, जिसकी पत्नी अपने श्वसुर की काम-वासना का शिकार हुई है। जिन्होंने कामान्धाता के कारण, अपनी साली और बहू को भी न छोड़ा हो, पति के समस्त अमानुषिक व्यवहारों को मूक रहकर पी जाने वाली पत्नी के जीवन को नरक बना दिया हो; ऐसे नराधम के प्रति संतान की क्या धारणा बन जाती है? वह सिर उठाकर अपने जन्मदाता का विरोध आमने-सामने भले ही न कर सकें, मन उस कामान्ध के प्रति कैसे

जहर उगलता रहता है, इसे मिश्रजी की लेखनी ने बड़ी सशक्त रूप में प्रस्तुत किया है। इसी प्रकार 'एक और त्रिशंकु' कहानी का महेश्वर, जो उसे जीवन-भर सच्चरित्रता का पाठ पढ़ाते रहे, जब अपने पिता को प्रौढ़ावस्था में दुष्चरित्रता की ओर कदम बढ़ाते देखता है तो उसकी स्थिति त्रिशंकु की भाँति ही दयनीय हो उठती है।

एक ग्रामीण युवती राजेसुरी की काम-विकृति ने 'छाती का पीपल' कहानी में अभिव्यक्ति पाई है। उसकी काम-पिपासा को गलत राह देने के दोषी उसके पति ही थे क्योंकि; उन्होंने युवावस्था में अपने हृष्ट-पुष्ट शरीर के द्वारा राजेसुरी के शरीर की भूख को जाग्रत कर स्वास्थ्य और धनार्जन का वास्ता देकर किनारा कर लिया था। परिणाम यह हुआ की राजेसुरी अपने संस्कारों और समाज की मान-मर्यादा को भूलकर अपने हरवाहे नाथ से जुड़ गई थी और जब पति अपने शरीर की पूँजी गँवाकर उसके पास पहुँचा तो उसे लगा की वह 'सौभाग्यवती नहीं विधवा हो गई' है।

सेक्स की बलवती-कामना ने दाम्पत्य जीवन को ही कलुषित नहीं किया है वरन् भोली-भाली नवयुवतियों और होनहार नवयुवकों को भी गलत रास्ते पर ला पटका है। 'इंसान और शैतान' कहानी की पद्मा भी अपने कौमार्य की पवित्रता को नष्ट कर एक अनचाहे बच्चे की कुँवारी माँ बनने की स्थिति तक पहुँच जाती है। आधुनिकता के फैशन में अंध-अभिभावक पहले तो उसका मार्गदर्शन नहीं करते, किंतु बाद में लोक-लाज के डर से अबोध-शिशु के लिए शैतान बन जाते हैं। इतना ही नहीं उन्हें लाड़ में बिगाड़ी अपनी लाड़ली के प्राणों का मोह भी नहीं रह जाता। अवैध-गर्भ के विनष्टीकरण एवं अवैध संतांन के प्राण लेने के जघन्य कुकृत्य में एक डॉ० भी बेहिचक अपनी सहयोगी भूमिका निभाते हैं, किंतु मिश्रजी का संवेदनशील रचनाकार पद्मा के अवैध बच्चे के उद्धार के लिए दयालु डॉक्टर लाल का समावेश अपनी कहानी में करता है। डॉक्टर लाल उस बच्चे का पालन-पोषण अपने बच्चों से भी बढ़कर करती है। और अवैध यौन-संबंधों का प्रतीक वह अबोध शिशु उनके परिवार के गले का हार बन जाता है।

मिश्रजी ने अपनी कुछ कहानियों में उन आधुनिक फैशनपरस्त परिवारों पर भी दृष्टिपात किया है, जिनके अस्वस्थ-वातावरण के कारण नवकिशोर बच्चे गुमराह हो जाते हैं। 'सपनों की दुनिया' कहानी में एक ऐसे ही परिवार की गाथा है। मिस्टर और मिसेज दयाल की फिल्मप्रियता अपने बच्चों के समक्ष ऐसा उदाहरण रखती है कि राजीव और डॉली फिल्मी दुनिया को ही

अपनी स्वप्नों की दुनिया मान बैठते हैं और दयाल दंपती को अपने बच्चों से हाथ धोना पड़ता है। इसी प्रकार 'संस्कृति का विस्फोट' कहानी के रायबहादुर जगमोहन नाथ को पाश्चात्य संस्कृति के मोह का परिणाम यह भुगतना पड़ता है कि उनका पुत्र विलायत से लौटकर अपनी बहिन को ही पहचान नहीं पाता और परिचय पाने पर भी बहिन उसे इतना आकर्षित करती है कि वह प्रस्ताव कर बैठता है।

मिश्रजी की सामाजिक कहानियों का फलक बहुत विस्तृत है। समाज का शायद ही कोई ऐसा क्षेत्र हो, जहाँ उनकी दृष्टि न पहुँची हो। वेश्या जो शिष्ट समाज से बहुत दूर होती है, वह भी उनकी संवेदना के तारों को झंकृत कर गई है। 'आँखो में पानी' कहानी की द्रोपदी ऐसी वारांगना है, जो हमारे इसी समाज की मान्यताओं को गले लगाए है, जिसने उस पर अत्याचार करने में कसर नहीं रखी है और उसके हृदय की आकांक्षाओं को देखने की कभी चेष्टा नहीं की। वह बरगद के वृक्ष का वरण करके संतुष्ट हो जाने का कारण बताते हुए कहती है- "बचपन से यह सुनती चली आ रही है कि जिसका विवाह नहीं होता उसकी मुक्ति नहीं होती, बार-बार उसे स्त्री का नारकीय चोला मिलता है। शादी हम लोगों से कोई भला आदमी क्यों करने लगा, ऐसे बदमाश तो तैयार हो जाएँगे, जो तन, मन, धन सभी कुछ लूटकर चार दिन बाद चंपत हो जाएँ। सो हमारे समाज की समझदार औरतों ने यह बरगद से विवाह करने की तरकीब ढूँढ़ निकली।....माफ कीजिएगा सरकार, पुरुष जाति की जो धोखा देने की आदत है, उसको इस शादी से कोई खतरा नहीं है। यह लोक बिगड़ा नहीं, बिना किसी रुकावट के अपना नाचने गाने का पेशा करती रहीं और परलोक भी संवर गया।"[164] द्रोपदी का यह कथन समाज के मुँह पर कितना करारा तमाचा है!

मिश्रजी ने इसी प्रकार संगीत, कला और कलाकारों को लेकर भी बहुत ही मार्मिक कहानियाँ लिखी हैं। मिश्र जी संगीत-कला के बड़े प्रेमी रहे है। स्वयं इस विधा में प्रवीण होने के सिलसिले में उन्हें संगीत के अनेक कलाकारों की इस दुनिया के निकट संपर्क में आने का अवसर मिला हैं और उन्होंने संगीतकारों, कलाकारों की विभिन्न समस्याओं पर सहानुभूतिपूर्वक विचार किया है। मिश्र जी ने 'खानदानी पीलू' कहानी में एक प्रसिद्ध गायक की आर्थिक कठिनाइयों का मार्मिक वर्णन किया है। खानदानी संगीतकार की पीड़ा उस से अपना हृदय खोलकर रख देती है, जब वह अपने बेटे से कहता है- "नहीं! बेटा तुझे गवैया नही बनाऊँगा। तुझे स्कूल में पढ़ाकर दफ्तर में क्लर्क बनाऊँगा, जिससे दोनों वक्त चैन से रोटी तो खा सकें।"[165]

'कला का रोजगार' कहानी में भी एक कवि की आर्थिक विवशता का चित्र है जिसे आर्थिक संकट से बचने के लिए फिल्मी दुनिया में प्रवेश करना पड़ता है और अपनी आत्मा की आवाज के विपरीत श्रृंगारपूर्ण हल्के गीत लिखने पड़ते हैं, लेकिन एक दिन ऐसा आता है, जब वह अपने नाम की दुर्दशा देखकर इस दुनिया को तिलांजलि देकर भाग खड़ा होता है। 'तबलिया' के समक्ष अपनी प्रतिष्ठा बनाए रखने की समस्या है, वह स्वयं तो कला के उच्चतम शिखर पर पहुँच चुके हैं। परन्तु उनमें एक साथ है कि नवयुवकों में विस्मृत होती जा रही कला के लिए सम्मान पैदा कर सकें, किन्तु फ़िल्मों में थोड़ी कलेबाजी करने वाली एक सामान्य युवती से अपमानित होना पड़ता है। लेखक ने 'हंसकिंकनी' कहानी के द्वारा कला के प्रति समाप्त होती निष्ठा को चित्रित किया है। लेखक बताना चाहता है कि आज लोगों की कला के प्रति जीवन समर्पित कर देने की भावना समाप्त होती जा रही है। विमला एक ऐसी युवती है, जिसमें उत्कृष्ट कलाकार के गुण हैं और जो अपनी कला के द्वारा श्रोताओं को मंत्रमुग्ध करने की क्षमता रखती है। परन्तु वह अपने भौतिक जीवन के समक्ष इस कला को पूर्णरूपेण भूल जाती है। इसी प्रकार 'सरोद की गत' 'नर्तक' (नई राहें), 'चित्रकार का उत्तराधिकारी' आदि पंडित गंगाप्रसाद मिश्र की कुछ अन्य कला-संबंधी प्रसिद्ध कहानियाँ है, जो कला-जगत के कुछ अंतरंग चित्र पाठकों के समक्ष उपस्थित करती है। शिक्षा-विभाग में विभिन्न पदों पर कार्यरत रहने के कारण शिक्षा-जगत से उनका घनिष्ट सम्बन्ध रहा है। 'शैतान का साया', 'प्रिंसिपल की डाक' तथा 'पेशे-पेशे की बात' कहानियों में शिक्षकों की विभिन्न समस्याओं की ओर ध्यान दिया गया है। 'गुरु : १९६१ संस्करण' में शिक्षको की अनीति और दुर्बल पक्ष का उद्घाटन हुआ है।

इसी तरह गंगाप्रसाद मिश्र की सामाजिक कहानियों में पाठको का हृदय स्पर्श करने के लिए तथा उनका मनोरंजन करने के लिए हास्य और व्यंग्य का खूब खुलकर उपयोग किया गया है किन्तु; कुछ कहानियों में कुछ विशिष्ट व्यक्तियों को दृष्टि में रखकर हास्य-व्यंग्य का अत्यंत सफल प्रयोग किया गया है। इन कहानियों की गणना हिंदी की कुछ प्रसिद्ध हास्य-व्यंग्य की कहानियों में की जा सकती है। मिश्रजी की कुछ प्रमुख हास्य-व्यंग्य प्रधान कहानियाँ हैं- 'यज्ञ विध्वंस', 'या बिधना', 'चचा का मातम', 'घोड़ा डॉक्टर', 'मुझे प्यार करो' तथा 'भाई जी की लगन' आदि कहानियाँ हैं।

गंगाप्रसाद मिश्र और मुंशी प्रेमचंद जी के वार्तालाप को डॉ. बंधु कुशावर्ती जी के माध्यम से 'गंगाप्रसाद मिश्र जन्मशती' स्मृतिका पत्रिका में निम्नवत् दर्शाया गया है -

प्रेमचन्द- 'मैं तुमसे बहुत नाराज हूँ।'

आखिर मुझसे क्या गलती हो गई?' मैने पूछा

प्रेमचन्द- 'तुम कहानियाँ लिखते हो? आज तक तुमने यह बात मुझे नहीं बताई?

मैं हँस पड़ा, फिर बोला- 'क्या मैं और क्या मेरी कहानियाँ। मुश्किल से एक-दो लिखी हैं। कुछ खास नहीं है उनमें। उनका जिक्र मैं आपसे करने बैठता- कहानी सम्राट प्रेमचन्द जी से कि देखिए, मैने भी कुछ तीर मारे हैं।'[166]

प्रेमचन्द- 'यह लखनउवा लफ्फाजी रहने दो....यह कौन-सी भालमंसी है कि तुमने मेरी तो सब रचनाएँ पढ़ डालीं और मुझे अपनी एक रचना न पढ़ने को दी, न सुनायी? अब इसकी सजा यही है; अभी घर जाकर अपनी कोई कहानी लेकर आओ और मुझे सुनाओ।'[167]

यह १७-१८ वर्षीय युवक गंगाप्रसाद मिश्र और उपन्यास सम्राट प्रेमचन्दजी के बीच हुआ वह आंशिक वार्तालाप है, जो इलाज के सिलसिले में आखिरी बार लखनऊ आकार कुछ दिनों रुके प्रेमचन्दजी से हुआ था।

मिश्रजी ने इसके बाद संकोचवश कुछ आना-कानी भी की और कहानी लाने-सुनाने की बात को कल-वल पर टालना चाहा लेकिन, प्रेमचन्द नहीं माने। अतः युवक गंगाप्रसाद घर गए, जो पास में ही था और लखनऊ विश्वविद्यालय द्वारा हाल ही में आयोजित आ. भा. कहानी प्रतियोगिता में पुरस्कृत 'महाराजिन' कहानी लेकर आये। फिर भी दिल धड़क रहा था - आखिर किसके सामने अपनी कहानी पढ़ने जा रहा हूँ? उस व्यक्ति के सामने, जो संसार के श्रेष्ठ कहानी लेखकों में गिना जाता है। लौटते हुए रास्ते में कहानी लेकर सोचते रहे की प्रेमचन्दजी ने मुझसे कहानी सुनाने के लिए आग्रह तो इतना किया है। पर बाद में कहीं समय नष्ट होने के लिए दुखी न हों।....

....अंततः आकर मिश्रजी ने कहानी सुनानी शुरू की। प्रेमचन्द जी आरम्भ से ही भाषा-शैली की प्रशंसा करने लगे। फिर एक मार्मिक अंश आया, जिसमें दहेज की हविश पूरी न हो पाने से वर-पक्ष वाले बहू को विदा कराये बग़ैर बारात लेकर लौट गए थे- "जहाँ कुछ देर पहले पूरी रौनक थी, बाजे बज रहे थे, शामियाना-तम्बू लगे हुए थे, लोग इधर-उधर आ-जा रहे थे, वहाँ

बिल्कुल स ाटा हो गया। शा मयाना-तम्बू उखड़ गये। गाँव का कुत्ता एक तरफ बैठकर हाँफने लगा और बुद्धू व पैला मजदूरों ने चलम पीते हुए उखारी क फसल क बात शुरू कर द ।"[168]

कहानी का यह ववरणांश सुनते ही मसनद-सी बड़ी त कया के सहारे लेटे; पाण्डु रोग से पी ड़त प्रेमचन्दजी उठाकर बैठ गए और युवक गंगाप्रसाद क पीठ ठोंकते हुए बोल पड़े 'वाह, तुमने तो मेरी कलम ही छ न ली। क्या चत्र खींचा है। तुम एक दन हद का मुख उज्ज्वल करोगे। बहुत अच्छा लखते हो।'[169]

कहानी समाप्त होने पर भी प्रेमचन्दजी ने मुक्तकंठ से युवा कहानी लेखक गंगाप्रसाद मश्र क प्रशंसा करते हुए फर कहा- 'सचमुच तुम बहुत अच्छा लखते हो। इस बार बनारस जाकर मै एक पत्र ('बीसवीं सद ' नकालना चाहते थे क्यों क, 'हंस' प त्रका भारतीय सा हत्य प रषद, बंबई के अधीन नकलने लगी थी, जससे उन दनों प्रेमचन्द जी क अनेक असहम तयाँ थी। पर बाद में 'हंस' प त्रका फर से प्रेमचन्द को प्रकाशन के लए वापस मल गई थी। अतः प्रेमचंद ने 'बीसवीं सद ' प त्रका प्रका शत नहीं क) नकालूँगा। उसमें तुम कहा नयाँ भेजा करना। मैं तुम्हें प रश्र मक भेजा करूँगा। मेरी आज क बात याद रखना-- लखना न छोड़ना। जो चीजें अच्छे लेखक में होनी चा हए, तुममें मौजूद हैं। अगर बराबर लखते रहे, तो जरूर कुछ ऐसी चीजें अपनी जम्मेदारी में लख जाओगे, जो खुद अमर होगी तुम्हें भी अमर कर देगी।'[170]

प्रेमचन्दजी का स्वा   य सुधर नहीं सका। एक दन वह अपने नए लेखक- मत्र गंगाप्रसाद मश्र से बोले- लगता है आ खरी वक्त आ गया है। सोचता हूँ क बच्चों के बीच में ही जाकर मरूँ।'[171]

इसके दो-चार दन बाद ही प्रेमचन्दजी वाराणसी लौट गए और अचानक एक दन उनके देहावसान के समय ३ वर्ष का शशु रहे गंगाप्रसाद; अपने पता के नधन के जस दुःख क गंभीरता को नहीं समझ सके थे, प्रेमचन्दजी का न रहना; उन्हें अपने सा ह त्यक पता का देहावसान लगा। वह फूट-फूट कर रोये।

समय के प्रवाह में पं डत गंगाप्रसाद मश्र ने अपने को प्र त   त-   ा पत करने के लए भावों-दबावों में बहने के बजाय बदलते समय, समाज और जीवन को अपने लेखन में समेटा। इसका सबसे ज्वलंत प्रमाण है उनका अ न्तम उपन्यास 'रांग साइड'!

 हन्द में खेल-जीवन और खला ड़यों को लेकर कहा नयाँ हों चाहे उपन्यास, लगभग

दुर्लभ हैं। प्रेमचन्द की कुछ कहानियों के बाद खेल या खिलाड़ी को लेकर लिखी गयी कहानियों पर नज़र दौड़ाना चाहें, तो घोर-संकट और अभाव में भी गंगाप्रसाद मिश्र की कहानियाँ हमे सबसे अधिक उबारती और हिंदी की लाज रखती है। 'रांग साइड' एक माँ-बाप की तीन खिलाड़ी बेटियों को केन्द्र में रखकर लिखा गया है। खेल की मौजूदा दुनिया के जो चित्र इसमें उभरे हैं, वे महिला खिलाड़ियों के घरेलूपन, समझौतों की जिन्दगी से लेकर यौन-शोषण और महत्वाकांक्षापूर्ण स्वच्छंदजीवन तक की छवियों से रूबरू कराते हैं। नाम से एक व्यंग्य-कृति का आभास देने वाला यह उपन्यास छोटा होने के बावजूद हिंदी के प्रायः दुर्लभ-लेखन को संभव बना गया है। इसलिए असंदिग्ध रूप से उल्लेखनीय भी है और महत्वपूर्ण भी। इसके बावजूद इसकी यदि चर्चा न हीं हुई तो प्रायः ६० वर्षों तक लिखते रहने वाले मिश्रजी के उपेक्षित किए जाते रहने को भी हिंदी में विडंबना क्यों नहीं माना जाना चाहिए?

फिर भी अपनी उपेक्षा और हिंदी में ऐसी विडंबना की स्थितियों पर मिश्रजी ने ठीक ही लिखा है- 'सन् '३४ से अब तक बराबर लिखता रहा। लखनऊ में कम और हरदोई, झांसी, बलरामपुर, रामपुर, बस्ती, सुलतानपुर, फैजाबाद, रायबरेली और गोण्डा जैसी कस्बाई व छोटी जगहों में जीवन के २१ वर्ष कट गए, जो सच पूछिए तो कृतित्व के बल पर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करने के दिन थे। सरकारी नौकरी के अंकुश और प्रशासनिक-उत्तरदायित्व का निर्वाह करते हुए भी मैं अपनी लगन के कारण केवल लिखता रहा। यह नहीं कह रहा हूँ कि इन स्थानों पर रहने के कारण मेरे अनुभव में विविधता नहीं आयी। फिर भी हुआ यह कि न मैं किसी गुट में शामिल होकर उछाला जा सका, न ऐसी पत्रिकाओं और प्रकाशकों से ही जुड़ पाया, जो मेरी रचनाओं का परिचय नित्य प्रति बढ़ती पाठकों की संख्या से करवाते। फलस्वरूप मेरी अनेक अच्छी रचनाओं की अपने समय में ही नहीं, आलोचकों की दृष्टि से भी वहीं स्थिति हो गयी कि जंगल में मोर नाचा किसने देखा'![172]

'जब यह एहसास हुआ तब?'

स्वयं मिश्रजी के मुताबिक यह है उत्तर "अवकाश ग्रहण करने के बाद होश आया, तो यह सत्य मुझ पर उजागर हुआ कि विज्ञापन के इस युग में कितने बहुमूल्य वर्ष मैने खो दिए। ४० वर्षों के बीच लिखे हजारों पृष्ठों के लेखन के बावजूद मुझे पाठकों और साहित्यकारों को अपना परिचय देना है।"[173]

उपर्युक्त विवेचन के बाद हम कह सकते हैं कि पंडित गंगाप्रसाद मिश्र का कथा-साहित्य सुधारवादी विचारों से ओतप्रोत हैं। मिश्रजी की सांस्कृतिक चेतना समन्वयवादी है। उनमें प्राचीन भारतीय संस्कृति के उदात तत्वों के प्रति आस्था है, मानवता के हित के लिए उसके आध्यात्मिक -पक्ष की महत्ता वह स्वीकार करते हैं, किंतु इसका तात्पर्य यह नही है कि संस्कृति के भौतिक-पक्ष की उपेक्षा की जाय। उनकी निश्चित धारणा यह है कि मानव जीवन का स्वस्थ-विकास दोनों पक्षों के समुचित समन्वय में निहित है। यही कारण है कि वे पाश्चात्य-संस्कृति के प्रगतिशील तत्वों को अपनाने की प्रेरणा देते हैं। मिश्रजी के कथा-साहित्य से भारतीय संस्कृति की पृष्ठिभूमि में से उभरती है। वह जिस क्षेत्र से कथावस्तु का चयन करते हैं, वहाँ की भौगोलिक प्रकृति, पर्व-त्यौहार संस्कार, प्रथाओं आदि को जीवंत रूप में प्रस्तुत कर देते हैं, साथ ही प्रतिगामी रूढ़ियों तथा गलित परंपराओं को त्याग देने की प्रेरणा देते हैं।

१.४ निष्कर्ष

आज हिंदी साहित्य में कथा-साहित्य एक समर्थ एवं अत्यंत लोकप्रिय विधा है। आज के कथा साहित्य में जीवन का प्रत्येक पक्ष चित्रित होने लगा है। नये-नये प्रयोगों के माध्यम से कथा-साहित्य में अनेक क्षितिजों का निरंतर उद्घाटन हो रहा है। इसमें ग्रामीण-समाज, नगरीय-समाज एवं मध्यवर्गीय-समाज को चित्रित करने के लिए अनेक प्रयोग हुए हैं। पंडित गंगाप्रसाद मिश्रजी एक ऐसे कथाकार है, जिन्होंने अपने कथा साहित्य में ग्रामीण-समाज, नगरीय-समाज एवं मध्यवर्गीय-समाज को उभारा है। यों तो उनके कथा-साहित्य में ग्रामीण, नगरीय एवं मध्यवर्गीय समाज और उनकी समस्याओं का वर्णन हुआ है, लेकिन जिस समाज का सर्वाधिक जन-जीवन यहाँ उभारा है, वह है-लखनऊ का समाज।

प्रस्तुत अध्याय में लखनऊ के सामाजिक जन-जीवन के अंतर्गत लखनऊ के ग्रामीण-समाज, नगरीय-समाज एवं मध्यवर्गीय-समाज के रहन-सहन, खान-पान एवं रीति-रिवाज साथ उनके सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक स्थिति पर भी प्रकाश डाला गया है। वैसे तो पंडित गंगाप्रसाद मिश्रजी को सम्पूर्ण कथा-साहित्य में भारतीय समाज का जन-जीवन समाया हुआ है, खासकर भारतीय मध्यवर्ग। इस मध्यवर्ग के साथ ही उससे संबंधित उच्च और निम्न-वर्ग के समाज की सभ्यता और संस्कृति को उन्होंने लगभग अपने सम्पूर्ण कथा-साहित्य में व्यापक फलक प्रदान किया है और भारतीय मजदूरों के संघर्ष की कथा का भी लेखक ने बड़ा ही

मार्मिक और यथार्थ चित्र का वर्णन किया है। इसका एक छोटा सा उदाहरण मिश्रजी के उपन्यास 'विराग' में इस प्रकार है- "जिनका परिवार बड़ा है, उनका यह हाल है कि एक वक्त भी भरपेट रोटी मिलने में मुश्किल पड़ती है। कुछ चने चबाकर ही गुजर करते हैं। जिस दिन रोटी-दाल से भेंट हो जाती है, सब लोग बड़े आनंदमग्न होते हैं। उनके क्वार्टर बड़े ही गंदे और तंग हैं। मजदूरों के पास एक कोठरी है, उसी में खाना बनता है।....जो कुछ अगड़म-बगड़म है, वह रखा जाता है। उसी परिवार में चाहे जितने व्यक्ति हों, सब उसी गीली सील-खाई जमीन पर अपनी फटी बिछौनिया बिछाकर सोते हैं। कई जगह तो एक ओर मजदूर खाना बना रहा है, दूसरी ओर एक फटा पर्दा डाले उसकी पत्नी जच्चा की अवस्था में पड़ी है या संक्रामक रोगों से ग्रसित बीमार पड़ी खाँस रही है।"[174]

लेखक ने यह सब आँखो से देखा है और उतनी ही सजीवता से उसे पाठक के सामने रख दिया है।

इसी उपन्यास में एक और मार्मिक चित्र है- "उस दिन घर में कुछ खाने को न रह गया था। दोनों बच्चे मुरझाए मुँह लिए चटाई पर पड़े थे और छोटा गोद का बच्चा भूखी माँ की छातियों को नोच-नोचकर दूध न पाने की वजह से गला फाड़-फाड़कर चिल्ला रहा था।"[175]

व्यक्ति के ऊपर समाज की वरीयता, मजदूरों और निर्धनों की पक्षधरता, मलिन बस्तियों का चित्रण, शोषण की निंदा, पूँजीपतियों और मिल-मालिकों का विरोध, मजदूर-आंदोलनों का समर्थन, स्त्री विशेषतः विधवा-स्त्री के प्रति सहानुभूति आदि ऐसी अनेक बातें है, जो इस उपन्यास को प्रगतिशील उपन्यासों की अग्रपंक्ति में रखती है।

इसी के साथ गंगाप्रसाद मिश्र की सांस्कृतिक-चेतना समन्वयवादी है। उनमें प्राचीन भारतीय-संस्कृति के उदात-तत्वों के प्रति आस्था है। मानवता के हित के लिए वह उसके आध्यात्मिक पक्ष की महत्ता स्वीकार करते हैं, किंतु इसका तात्पर्य यह नही है कि संस्कृति के भौतिक पक्ष की उपेक्षा की जाय। मिश्रजी की निश्चित-धारणा है कि मानव-जीवन का स्वास्थ विकास दोनों पक्षों के समुचित-समन्वय में निहित है। यही कारण है कि वे पश्चात्य-संस्कृति के प्रगतिशील तत्वों को अपनाने की प्रेरणा देते हैं। गंगाप्रसाद मिश्रजी की कथा-साहित्य की कहानी भारतीय संस्कृति की पृष्ठिभूमि में से उभरती है।

१.५ संदर्भ

१. गंगाप्रसाद मिश्र ग्रंथावली (खण्ड -३), संपादक- डॉ. इंदु शुक्ला, पृ. ०३

२. वही, पृ. ०९

३. गंगाप्रसाद मिश्र ग्रंथावली, (खण्ड -५), संपादक- डॉ. इंदु शुक्ला, पृ. ०३

४. वही, पृ. १०८

५. वही, पृ. १०८

६. वही, पृ. १०८

७. वही, पृ. १०९

८. वही, पृ. ११२

९. वही, पृ. २२३, २२४

१०. 'जहर चाँद का': एक सोद्देश्य एवं सार्थक औपन्यासिक रचना- डॉ. पारुकांत देसाई, स्रोत- गंगाप्रसाद मिश्र ग्रंथावली, (खण्ड -३), संपादक - डॉ. इंदु शुक्ला, पृ. १२०

११. गंगाप्रसाद मिश्र ग्रंथावली, (खण्ड -५), संपादक - डॉ. इंदु शुक्ला, पृ. १७

१२. वहीं, पृ. १७, १८

१३. गंगाप्रसाद मिश्र ग्रंथावली, (खण्ड -६), संपादक - डॉ. इंदु शुक्ला, पृ. २९

१४. वहीं, पृ. २९, ३०

१५. वहीं, पृ. ३०

१६. वहीं, पृ. ३०

१७. वहीं, पृ. ३०

१८. वहीं, पृ. ३१

१९. वहीं, पृ. ३१

२०. वहीं, पृ. ३२

२१. वहीं, पृ. ३२

२२. वहीं, पृ. ३२

२३. वहीं, पृ. ३८

२४. 'मुस्कान है कहाँ ': कथा संगठन और प्रतिपाद्य- प्रो. जय प्रकाश, स्रोत- गंगाप्रसाद मिश्र ग्रंथावली, (खण्ड-३), संपादक- डॉ. इंदु शुक्ला, पृ. २१७

२५. सामाजिक समस्याएं (द्वितीय संस्करण)- राम आहूजा, पृ. २७६

२६. 'मुस्कान है कहाँ' (उपन्यास)- पंडित गंगाप्रसाद मिश्र, स्रोत- गंगाप्रसाद मिश्र ग्रंथावली, (खण्ड -५), संपादक- डॉ. इंदु शुक्ला, पृ. २७१

२७. मुस्कान है कहाँ' (उपन्यास)- पंडित गंगाप्रसाद मिश्र, स्रोत- गंगाप्रसाद मिश्र ग्रंथावली, (खण्ड- ५), संपादक- डॉ. इंदु शुक्ला, पृ. २७१

२८. वही, पृ. २७१

२९. वही, पृ. २७१

३०. मुस्कान है कहाँ' (उपन्यास)- पंडित गंगाप्रसाद मिश्र, स्रोत- गंगाप्रसाद मिश्र ग्रंथावली, (खण्ड- ५), संपादक- डॉ. इंदु शुक्ला, पृ. २७८

३१. मुस्कान है कहाँ' (उपन्यास)- पंडित गंगाप्रसाद मिश्र, स्रोत- गंगाप्रसाद मिश्र ग्रंथावली, (खण्ड -५), संपादक- डॉ. इंदु शुक्ला, पृ. २७९

३२. वही, पृ. २७९

३३. मुस्कान है कहाँ' : कथा संगठन और प्रतिपाद्य- प्रो. जय प्रकाश, स्रोत- गंगाप्रसाद

मिश्र ग्रंथावली, (खण्ड- ३), संपादक- डॉ. इंदु शुक्ला, पृ. २१९

३४. गंगाप्रसाद मिश्र ग्रंथावली, (खण्ड -५), संपादक- डॉ. इंदु शुक्ला, पृ. २६

३५. वही, पृ.२८

३६. 'जहर चाँद का' (उपन्यास)- पंडित गंगाप्रसाद मिश्र, स्रोत- गंगाप्रसाद मिश्र ग्रंथावली, (खण्ड -५), संपादक- डॉ. इंदु शुक्ला, पृ. ९८

३७. वहीं, पृ. १३१

३८. गंगाप्रसाद मिश्र ग्रंथावली, (खण्ड -३), संपादक- डॉ. इंदु शुक्ला, पृ. २०३, २०४

३९. 'रांग साइड बावजूद' - बकुल, स्रोत- गंगाप्रसाद मिश्र ग्रंथावली, (खण्ड -३), पृ. २०४

४०. 'रांग साइड'- गंगाप्रसाद मिश्र, स्रोत- गंगाप्रसाद मिश्र ग्रंथावली (भाग- ५), पृ. ४३२

४१. गंगाप्रसाद मिश्र ग्रंथावली, (खण्ड- ३), संपादक- डॉ. इंदु शुक्ला, पृ. २०४

४२. गंगाप्रसाद मिश्र ग्रंथावली, (खण्ड -३), संपादक- डॉ. इंदु शुक्ला, पृ. २०५

४३. वही, पृ. ४३७

४४. वही, पृ. ४३७

४५. वही, पृ. ४३९

४६. 'विराग' (उपन्यास) - पंडित गंगाप्रसाद मिश्र, स्रोत - गंगाप्रसाद मिश्र ग्रंथावली, (भाग- ४), पृ. २५

४७. वहीं, पृ. २३

४८. वही, पृ. ४६

४९. वही, पृ. ४६

५०. 'विराग' (उपन्यास) - पंडित गंगाप्रसाद मिश्र, पृ. ५२

५१. 'विराग' (उपन्यास) - पंडित गंगाप्रसाद मिश्र, पृ. ५२-५३

५२. वही, पृ. ५३

५३. वही, पृ. ५३

५४. वही, पृ. ५३

५५. 'विराग' (उपन्यास) - पंडित गंगाप्रसाद मिश्र, पृ. ७४

५६. वही, पृ. ७४

५७. 'विराग' (उपन्यास) - पंडित गंगाप्रसाद मिश्र, पृ. ७८-७९

५८. वही, पृ. ७९

५९. वही, पृ. ८०

६०. वही, पृ. ८०

६१. एफ.सी. पाम, उद्‌धृत द्वारा- जी.एस. धूरे, कास्ट क्लास एण्ड ओक्यूपेशन, पॉपूलर बुक डिपो बम्बई-१९६१, पृ. २९०, स्रोत- 'अमृतलाल नागर के उपन्यासों में समाज और संस्कृति'- डॉ. गुलाम फरीद साबरी, पृ. ११२

६२. द इंगलिश मिडिल क्लास, आर.एच. ग्रेटन, पृ.१ उद्‌धृत द्वारा - मंजुलता सिंह हिंदी उपन्यास में मध्यवर्ग, आर्य बुक डिपो, दिल्ली जेड १९९६, पृ.५, स्रोत - 'अमृतलाल नागर के उपन्यासों में समाज और संस्कृति'- डॉ. गुलाम फरीद साबरी, पृ. ११२

६३. हिंदी साहित्य कोश, संपादक- डॉ. धीरेंद्र वर्मा

६४. आक्सफोर्ड इलस्ट्रेटेड डिक्सनरी, उद्‌धृत द्वारा - डॉ. संगीता गुप्ता, यज्ञदत्त शर्मा के उपन्यासों में मध्यवर्ग, पृ. २३

६५. 'तस्वीरें और साये' (उपन्यास)- पण्डित गंगाप्रसाद मिश्र, उद्‌धृत द्वारा - डॉ. इंदु

शुक्ला, गंगाप्रसाद मिश्र ग्रंथावली (भाग ४), पृ. २८८

६६. वही, पृ.२८८

६७. वही, पृ. २९७

६८. वही, पृ. ३१७

६९. वही, पृ. ३१८

७०. वही, पृ. ३१८

७१. 'तस्वीरें और साये'- पण्डित गंगाप्रसाद मिश्र, उद्धृत द्वारा- डॉ. इंदु शुक्ला, गंगाप्रसाद मिश्र ग्रंथावली (भाग ४), पृ. ३०७

७२. वही, पृ. ३०८

७३. वही, पृ. ३०९

७४. वही, पृ. ३०९

७५. वही, पृ. ३०९

७६. 'तस्वीरें और साये' (उपन्यास)- पण्डित गंगाप्रसाद मिश्र, उद्धृत द्वारा- डॉ. इंदु शुक्ला, गंगाप्रसाद मिश्र ग्रंथावली (भाग ४), पृ. २८६

७७. वही, पृ. ३३९

७८. 'विराग' (उपन्यास)- पंडित गंगाप्रसाद मिश्र, उद्धृत द्वारा- डॉ. इंदु शुक्ला, - गंगाप्रसाद मिश्र ग्रंथावली (भाग ४), पृ. ८०

७९. वही, पृ. २५

८०. वही, पृ. ४४-४५

८१. वही, पृ. ४५

८२. वही, पृ. ४५

८३. वही, पृ. ४५

८४. वही, पृ. ४५

८५. विराग' (उपन्यास)- पंडित गंगाप्रसाद मिश्र, उद्‌धृत द्वारा- डॉ. इंदु शुक्ला, - गंगाप्रसाद मिश्र ग्रंथावली (भाग ४), पृ. ४६

८६. वही, पृ. ४६

८७. वही, पृ. ४६

८८. वही, पृ. ४६

८९. वही, पृ. ४६

९०. विराग' (उपन्यास)- पंडित गंगाप्रसाद मिश्र, पृ. ४६

९१. वही, पृ. ४६

९२. वही, पृ. ४६

९३. वही, पृ. ४६

९४. विराग' (उपन्यास)- पंडित गंगाप्रसाद मिश्र, पृ. ४७

९५. वही, पृ. ४७

९६. वही, पृ. ४७

९७. वही, पृ. ४७

९८. वही, पृ. ४७

९९. विराग : एक प्रगतिशील उपन्यास- डॉ. पीतांबरदत्त बड़थ्वाल, उद्‌धृत द्वारा- डॉ. इंदु शुक्ला, - गंगाप्रसाद मिश्र ग्रंथावली (भाग ३), पृ. २२

१००. 'संघर्षों के बीच : एक पूरा यथार्थवादी उपन्यास'- श्री अमृताराय, उद्धृत द्वारा- डॉ. इंदु शुक्ला,- गंगाप्रसाद मिश्र ग्रंथावली (भाग ३), पृ. २८

१०१. 'संघर्षों के बीच : जहाँ संघर्ष पिछड़ जाते हैं'- श्रीलाल शुक्ल, उद्धृत द्वारा- डॉ. इन्दु शुक्ला, - गंगाप्रसाद मिश्र ग्रंथावली (भाग ३), पृ. ४१

१०२. 'गंगाप्रसाद मिश्र : निबंधकार के रूप में'- डॉ. श्रीराम नगर, उद्धृत द्वारा- डॉ. इन्दु शुक्ला, गंगाप्रसाद मिश्र ग्रंथावली (भाग ३), पृ. ९३

१०३. वही, पृ. ९४

१०४. 'करवट' (उपन्यास)- अमृतलाल नागर, पृ.२४

१०५. 'विचार और वितर्क'- हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. २३५

१०६. 'लोक साहित्य का अर्थ एवं परिभाषा'- डॉ. सुनीता शर्मा, (hpuhindistudymaterial.in)

१०७. लोक साहित्य का अर्थ एवं परिभाषा'- डॉ. सुनीता शर्मा, (hpuhindistudymaterial.in)

१०८. लोक साहित्य का अर्थ एवं परिभाषा'- डॉ. सुनीता शर्मा, (hpuhindistudymaterial.in)

१०९. लोक साहित्य का अर्थ एवं परिभाषा'- डॉ. सुनीता शर्मा, (hpuhindistudymaterial.in)

११०. 'तस्वीरें और साये' (उपन्यास)- पण्डित गंगाप्रसाद मिश्र, उद्धृत द्वारा - डॉ. इंदु शुक्ला, गंगाप्रसाद मिश्र ग्रंथावली (भाग ४), पृ. ४९९,५००

१११. वही, पृ. ५००

११२. वही, पृ. ५०१

११३. वही, पृ. ५०१

११४. वही, पृ. ५०२

११५. 'तस्वीरें और साये' (उपन्यास)- पण्डित गंगाप्रसाद मिश्र, पृ. ५०२

११६. वही, पृ. ५०२

११७. 'सपनों की दुनिया' (कहानी)- पंडित गंगाप्रसाद मिश्र, उद्धृत द्वारा - डॉ. इंदु शुक्ला, गंगाप्रसाद मिश्र ग्रंथावली (भाग ७), पृ. ११४

११८. 'विराग' (उपन्यास)- पंडित गंगाप्रसाद मिश्र, पृ. २४

११९. वही, पृ. ६०

१२०. 'महिमा' (उपन्यास)- पंडित गंगाप्रसाद मिश्र, पृ. १३८

१२१. 'संघर्षों के बीच : संघर्ष की विस्तृत होती गाथा'- प्रो. जयप्रकाश, उद्धृत द्वारा- डॉ. इंदु शुक्ला- गंगाप्रसाद मिश्र ग्रंथावली (भाग ३), पृ. ७५

१२२. 'संघर्षों के बीच' (उपन्यास)- पंडित गंगाप्रसाद मिश्र, पृ. १४-१५

१२३. वही, पृ. ४६

१२४. 'संघर्षों के बीच : संघर्ष की विस्तृत होती गाथा'- प्रो. जयप्रकाश, उद्धृत द्वारा- डॉ. इंदु शुक्ला- गंगाप्रसाद मिश्र ग्रंथावली (भाग ३), पृ. ७६

१२५. वही, पृ. ७६

१२६. वही, पृ. ७६

१२७. 'तस्वीरें और साये' (उपन्यास)- पण्डित गंगाप्रसाद मिश्र, पृ. ३४०

१२८. वही, पृ. ३४१

१२९. वही, पृ. ३४१

१३०. वही, पृ. ३४१

१३१. वही, पृ. ३४१

१३२. तस्वीरें और साये' (उपन्यास)- पण्डित गंगाप्रसाद मिश्र, पृ. ३४१

१३३. वही, पृ. ३४१

१३४. वही, पृ. ३४१

१३५. वही, पृ. ३४१

१३६. वही, पृ. ३४२

१३७. वही, पृ. ३४२

१३८. वही, पृ. ३४३

१३९. वही, पृ. ३५३-३५४

१४०. 'जहर चाँद का' (उपन्यास)- पण्डित गंगाप्रसाद मिश्र, पृ. १९९, २००

१४१. वही, पृ. २००

१४२. 'अमृतलाल नागर के उपन्यासों में समाज और संस्कृति'- डॉ. गुलाम फरीद साबरी, पृ. १५१

१४३. 'विराग' (उपन्यास)- पंडित गंगाप्रसाद मिश्र, पृ. २५

१४४. वही, पृ. २४

१४५. वही, पृ. ७४

१४६. 'तस्वीरें और साये' (उपन्यास)- पण्डित गंगाप्रसाद मिश्र, पृ. ४४५, ४४६

१४७. वही, पृ. ४४६

१४८. वही, पृ. ४४६

१४९. वही, पृ. ४४६

१५०. वही, पृ. ४४७

१५१. वही, पृ. ४४७

१५२. वही, पृ. ४४७

१५३. 'तस्वीरें और साये' (उपन्यास)- पण्डित गंगाप्रसाद मिश्र, पृ. ३४८

१५४. वही, पृ. ३४८

१५५. वही, पृ. ३४८

१५६. वही, पृ. ३४९

१५७. 'मुस्कान है कहाँ' (उपन्यास)- पण्डित गंगाप्रसाद मिश्र, पृ. २७८

१५८. भारतीय संस्कृति, गुलाबराय, पृ. २२

१५९. वही, पृ. ०७

१६०. 'मिश्र जी की कथा-सृष्टि : मानवीय संवेदना की कलात्मक अभिव्यक्ति'- डॉ. इन्दु शुक्ला, उद्धृत द्वारा- डॉ. इंदु शुक्ला, गंगाप्रसाद मिश्र ग्रंथावली (भाग ३), पृ. १३४

१६१. वही, पृ. १३४-१३५

१६२. 'मिश्र जी की कथा-सृष्टि : मानवीय संवेदना की कलात्मक अभिव्यक्ति'- डॉ. इन्दु शुक्ला, उद्धृत द्वारा- डॉ. इंदु शुक्ला, गंगाप्रसाद मिश्र ग्रंथावली (भाग ३), पृ. १३५

१६३. वही, पृ. १३६

१६४. वही, पृ. १३८

१६५. वही पृ. १३८

१६६. 'हिंदी सेवी कथाकार पंडित गंगाप्रसाद मिश्र'- डॉ. बन्धु कुशावर्ती, पृ. ७१

१६७. वही, पृ. ७१

१६८. वही, पृ. ७१

१६९. वही, पृ. ७१

१७०. 'हिंदी सेवी कथाकार पंडित गंगाप्रसाद मिश्र'- डॉ. बन्धु कुशावर्ती, पृ. ७१-७२

१७१. वही, पृ.७२

१७२. वही, पृ. ७३-७४

१७३. वही, पृ. ७४

१७४. 'विराग : एक प्रगतिशील उपन्यास'- डॉ. पीतांबरदत्त बड़थ्वाल, उद्धृत द्वारा - डॉ. इन्दु शुक्ला, गंगाप्रसाद मिश्र ग्रंथावली (भाग ३), पृ. २२

१७५. वही, पृ. २२